प्रथम अध्याय

भारतीय आदिवासी समाज : एक परिचय

1)आदिवासी : अवधारणा, स्वरुप और इतिहास

2) आदिवासी समाज-संरचना के घटक

3) आदिवासी समाज की सांस्कृतिक संरचना के तत्त्व

4) आदिवासी समाज : भूमंडलीकरण और पारिस्थितिकीय संकट

भारतीय आदिवासी समाज : एक परिचय

1.1- आदिवासी : अवधारणा, स्वरूप और इतिहास

वर्तमान समय में यदि किसी मनुष्य/समुदाय की सभ्यता और संस्कृति को सबसे अधिक खतरा है, तो वह है - आदिवासी समुदाय। चाहे वे सीमांत क्षेत्रों के आदिवासी समुदाय हों या गैर-सीमांत क्षेत्रों के, अपनी 'अस्मिता' और 'अस्तित्व' के लिए संघर्षरत ही दिखाई देते हैं।

आदिवासी को 'आदिवासी' न कहकर गिरिजन, जंगली या वनवासी आदि नामों से पुकारा जा रहा है, जिससे कि वह इस देश के 'मूल निवासी' होने का दावा ही भूल जायें। हमारे देश में 'आदिवासी' शब्द को अब तक परिभाषित नहीं किया गया है और न ही इनकी पहचान का कोई मानक तय किया जा सका है। परिणामस्वरूप, एक विशेष जाति एक राज्य में 'सामान्य श्रेणी' में शामिल है, तो वहीं दूसरे राज्य में 'जनजाति' की सूची में गिनी जा रही है। उदाहरण के लिए 'बैगा' जनजाति, जो उत्तर प्रदेश में 'सामान्य श्रेणी' में आती है, तो वहीं मध्य प्रदेश में अनुसूचित जनजातियों की श्रेणी में। 'आदिवासियों को दुनिया भर में अलग-अलग नामों से जाना जाता है जैसे - ट्राइब, प्रिमिटिव, इंडिजिनस, एबोरिजनल आदि।

औपनिवेशिक काल के दौरान अंग्रेजों द्वारा भारतीयों के लिए दो शब्दों 'नेटिव' और 'ट्राइब' का प्रयोग किया जाता था। नेटिव, भारत की आम जनता के लिए एवं 'ट्राइब' देश के दूर-दराज के जंगलों में निवास करने वाले आदिम मनुष्यों के लिए।

'' 'ट्राइब' पद का पश्चिम में स्वीकृत अर्थ जंगली और बर्बर समूह हैं, जो आदिम अवस्थाओं में रह रहे हैं। इस आधार पर पश्चिम की रूढ़ समझ है कि अफ्रीका की 'ट्राइब' पिछड़ी, असभ्य और हिंसक है।''[1] किन्तु 'ट्राइब' शब्द के प्रयोग का इतिहास पुराना है एवं औपनिवेशिक कारणों से महत्वपूर्ण भी।

इस संदर्भ में गंगा सहाय मीणा का मानना है कि ‘‘19वीं सदी तक के मानव विज्ञानी ‘ट्राइब’ की अवधारणा से बहुत प्रभावित रहें। उन्होंने ‘ट्राइब’ का तीन आधारों पर वर्गीकरण किया - आकार, आजीविका के साधन और सामाजिक व राजनीतिक संगठनों की जटिलता। आरंभ में स्पष्ट अवधारणाओं के अभाव में इन समुदायों के लिए ‘ट्राइब’ और ‘प्रमिटिव बैंड’ पद प्रयोग में लाये जाते थे। बाद में मानव विज्ञानियों ने इन पदों को अलग किया और ‘ट्राइब’ को भी दो भागों में बांट दिया। किसी सर्वमान्य मत के न होने के बावजूद कहा गया कि ‘प्रिमिटिव बैंड’ 10 से 100 लोगों के बीच का आदिम अवस्था में रह रहे लोगों समूह है।

दुनियाभर में फैले ‘प्रिमिटिव बैंड्स’ का ही सामूहिक नाम ‘ट्राइब’ दिया गया। ‘ट्राइब’ कोई मूल्यनिरपेक्ष शब्द नहीं है, इसके पीछे गहरे सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ हैं। प्रिमिटिव बैंड्स या कबीलों का सामूहिक नाम ‘ट्राइब’ होने के कारण धीरे-धीरे उन कबीलों जैसे उपेक्षित स्थितियों में रह रहे समुदायों के लिए ‘ट्राइब’ पद का इस्तेमाल किया जाने लगा। औपनिवेशिक शक्तियों ने इन्हें कुचला और इनकी स्थितियाँ और बदतर कर दीं। कालांतर में जिन समुदायों को उपनिवेशवादी शक्तियों ने हीन समझा, उन्हें ही ‘ट्राइब’ कहा जाने लगा।’’[2]

‘ट्राइब’ शब्द आदिवासियों के इतिहास को नकार कर, उनके बारे में भ्रम पैदा करता है। इसी ‘ट्राइब’ शब्द का हिंदी अनुवाद है - जनजाति। भारतीय संविधान में आदिवासी समुदाय के लिए ‘अनुसूचित जनजाति’ पद का उपयोग किया गया है। ‘जनजाति’ शब्द, आदिवासियों की किसी भी विशिष्टता की ओर संकेत नहीं करता। इस संदर्भ में श्यामचरण दूबे लिखते हैं, ‘‘जनजाति शब्द कुछ अर्थों में भ्रामक है। संविधान में जिन जन- जनजातियों को अनुसूचित किया गया है, उनमें कई केवल इसलिए अनुसूचित हुई हैं क्योंकि वे आर्थिक रूप से पिछड़ी थीं।’’[3] किसी समुदाय का पिछड़ा होना उसे आदिवासी नहीं बनाता। आर्थिक रूप से पिछड़ी जातियों के लिए एक अलग श्रेणी ‘अन्य पिछड़ा वर्ग’ यानी ओ.बी.सी. है, जिसमें सामाजिक व शैक्षणिक रूप से पिछड़ी जातियाँ शामिल हैं। 'आदिवासियों’ की तो अपनी एक अलग संस्कृति रही है। ये एक प्रजाति है, कोई जाति नहीं। केदार प्रसाद मीणा का इस संबंध में मत है

कि आदिवासी को 'जनजाति' कहने के पीछे राजनैतिक कारण हैं जिससे आदिवासियों और गैर आदिवासियों के मध्य स्पष्ट कोई अंतर न रहे। बहरहाल, 'जनजाति' शब्द आदिवासियों की भावना के अनुकूल नहीं है। इस समुदाय के लिए प्रयुक्त होने वाले दो अन्य शब्द हैं 'देशज' या 'इडिजिनस' एवं एबोरिजनल। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार 'इंडिजिनस' शब्द का अर्थ है देशज, अर्थात् उसी क्षेत्र विशेष के रहने वाले। 'एबोरिजनल' शब्द का प्रयोग ऑस्ट्रेलिया के मूल-निवासियों के लिए किया जाता है। ''ऑस्ट्रेलिया के एबोरिजिनलों से उनकी जमीनें और संस्कृति तो छीनी ही गईं बड़े भद्दे तरीके से उनका अपमान किया गया और यहाँ तक कि उनका बड़ी संख्या में नर-संहार भी किया गया।''[4]

यूनाइटेड नेशन के अनुसार, ''देशज लोग, समुदाय या राष्ट्र वे हैं, जिनकी अपनी सीमाओं के अतिक्रमण से पहले, वहाँ विकसित समाजों में ऐतिहासिक निरंतरता रही है, और वे इन सीमाओं में या इनके हिस्सों में पनप रहे समाजों के दूसरे तबकों से अपने आप को अलग मानते हैं। वर्तमान में वे समाज का गैर प्रभावी तबका बनाते हैं और अपने खुद के सांस्कृतिक ढांचे, सामाजिक संस्थाओं और कानूनी तंत्रों के अनुरूप अपनी पैतृक सीमाओं और जातीय पहचान, जिसके आधार पर वे लोगों के रूप में अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं, को सुरक्षित करने, विकसित करने और भावी पीढ़ियों के लिए दृढ़-संकल्प है।''[5] अतः 'देशज' शब्द से आदिवासियों के किसी क्षेत्र विशेष का मूल निवासी होने की बात ध्वनित होती है। वहीं हम 'आदिवासी' शब्द की व्याख्या करें तो यह दो शब्दों 'आदि' एवं 'वासी' से मिलकर बना है। 'आदि' शब्द से आदिवासियों का किसी विशेष भू-भाग के साथ सबसे पुराना संबंध होने की बात सिद्ध होती है, साथ ही, उनकी संस्कृति के 'आदिम' होने की भावना का भी पता चलता है। इसमें देशज एवं एबोरिजनल दोनों ही शब्दों की भावना समाहित होती है। इसीलिये "आदिवासी नेता जयपाल सिंह ने भी संविधान सभा में आदिवासियों के लिये 'जनजाति' के स्थान पर अंग्रेजी में 'इंडिजिनस' एवं हिंदी में 'आदिवासी' पद की वकालत की थी।"[6'] 'आदिवासी' शब्द से उनका 'भारत के मूल निवासी' होने का दावा भी सिद्ध होता है और उनकी संस्कृति-सभ्यता के आदिम इतिहास का भी। 'आदिवासी' शब्द ही इस समुदाय के लिए सबसे उपयुक्त शब्द है। किंतु इस बहस के बीच जगन्नाथ पाथी की यह टिप्पणी

भी गौर करने लायक है कि ‘‘भारत के आदिवासी देशज लोग हैं, या नहीं, इस बात का उनके लिए उपयोग किये जाने वाले शब्दों की सटीकता से कोई फर्क नहीं पड़ता, पर क्योंकि आदिवासियों और देशज लोगों की समकालीन समस्यायें और संघर्ष एक से हैं और चूंकि राष्ट्र संघ के वर्तमान प्रयासों का उद्देश्य देशज लोगों के लिए उपलब्ध नियमों में सुधार है, अतः अंतर्राष्ट्रीय नियमावली के लिए भारत की अनुसूचित जनजातियों को देशज लोग माना जाना चाहिए। इस प्रयास से लोकतंत्र और न्याय के कारकों को पुख्ता करने का एक नया चलन स्थापित होगा और वर्तमान में चल रहे संघर्षों का हल निकलेगा। उनके आर्थिक, सामाजिक और सामाजिक विकास पर उनके ही नियंत्रण हेतु कारकों को स्थापित करने में आंतरिक आत्मनिर्णय का सिद्धांत एक मार्ग प्रदर्शक की तरह ही होगा।’’[7]

स्वरूप :

आदिवासी नामकरण की समस्या के साथ ही आदिवासी स्वरूप अथवा आदिवासी किसे कहा जाये एवं वे कौन से मानदंड हैं, जिनके आधार पर किसी समुदाय को ‘आदिवासी’ समुदाय माना जाये, इस पर भी अनिश्चितता बनी हुई है। इसका कारण है आदिवासी पहचान संबंधी किसी मानक का न होना। इस संबंध में भी विभिन्न मानव-विज्ञानियों के भिन्न-भिन्न मत हैं।

मानव-विज्ञान की चर्चित पुस्तक ‘नोट्स एवं क्वेरीज ऑफ एन्थ्रोपोलॉजी’ के अनुसार, ‘‘जनजाति एक ऐसा मानव समुदाय है, जो राजनीति या सामाजिकता के आधार पर स्वायत्त होता है और किसी एक भू-भाग में निवास करता है, या उस भू-भाग का निवासी होने का दावा करता है।[8] वहीं डी. एन मजूमदार के अनुसार, " A tribe is a social group with territorial affiliation, endogamous, with no specialization of function, ruled by tribal officers, hereditary or otherwise, united in language or dialect, recognising social distance with other tribes or caste, without any social obloquy attaching to them, as it does in the caste structure, following tribal traditions, beliefs and customs, illiberal of naturalization of ideas from alian sources, above all conscious of homogeneity and ethnic and territorial integration."[9]

रेमंड फर्थ ने भी आदिवासी समुदाय को सांस्कृतिक शृंखला का मानव समूह माना है, जो एक ही भू-भाग पर निवास करता हो तथा एक ही संस्थाओं एवं परंपराओं का पालन करता हो। इन मानव-विज्ञानियों की परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि आदिवासी समुदाय, एक ऐसा समूह है, जहाँ नियम एवं सस्थायें आपस में संबंधित हैं तथा अन्य समुदायों के विपरीत स्तरहीन सामाजिक-संरचना मिलती है।

‘‘वर्तमान स्थिति में ‘आदिवासी’ शब्द का प्रयोग विशिष्ट पर्यावरण में रहने वाले, विशिष्ट भाषा बोलने वाले, विशिष्ट जीवन-पद्धति तथा परंपराओं से सजे और सदियों से जंगलों-पहाड़ों में जीवनयापन करते हुए अपने धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों को संभालकर रखने वाले मानव समूह का परिचय करा देने के लिए किया जाता है।’’[10]

आदिवासी समुदाय की उन विशेषताओं के आधार पर जो उन्हें गैर-आदिवासियों से अलग बनाती हैं, की पहचान करके भी, किसी समुदाय को आदिवासी या गैर आदिवासी माना जा सकता है। ऐसे ही एक विशिष्टता है प्रकृति के साथ उनका सहज-संबंध और सहजीविता एवं सामूहिकता की भावना।

प्रभु पी. के अनुसार आदिवासियों को अन्य समुदायों से अलग करने वाली सबसे बड़ी विशेषतायें हैं - ‘‘अपने क्षेत्र से उनके खास जुड़ाव और उनके समुदाय का प्रकृति से अंतरंग सबंध। उनके लिये अपने साधन स्त्रोतों के प्रबंध का अर्थ यह नहीं है कि अलग-अलग परिवारों के बीच भूमि का बंटवारा कर दिया जाए। आदिवासियों की दृष्टि में कोई व्यक्ति या समुदाय तभी भूमि से जुड़ता है, जब वह अपने पूर्वजों से लेकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी उस जमीन पर बसा हुआ हो। आदिवासी का क्षेत्र उसकी सामूहिक चेतना का विस्तार होता है। उनकी दूसरी विशेषताएँ हैं - ‘‘समुदाय की सभी आवश्यकताओं को समुदाय के भीतर ही पूरा करना और अपनी जरूरतों के लिए बाज़ार पर कम से कम निर्भर रहना।’’[11]

आदिवासी संस्कृति ही आदिवासियों की पहचान है। इस संदर्भ में आदिवासी चिंतक - रामदयाल मुंडा का मानना है कि वेद-पुराणों एवं संस्कृत साहित्य में उल्लिखित असुर, निषाद, दस्यु, वानर एवं राक्षस आदि जो आर्येतर जातियाँ हैं, वे ही आदिवासी की श्रेणी में आते हैं। वे ही इस देश के प्रथम निवासी हैं। उन्होंने द्रविड़ एवं मुंडा भाषा-भाषी जनजातियों को इसके अन्तर्गत रखा है। वस्तुतः आदिवासी सामाजिक-सांस्कृतिक विशिष्टता ही आदिवासी होने की पहचान है।

इतिहास :

आदिवासी समाज की विशिष्टता और ऐतिहासिकता को समग्रता में समझने के लिए इनके इतिहास पर दृष्टि डालना आवश्यक है। आदिवासियों ने अपने साहित्य को 'ऑरेचर' की संज्ञा दी है। इनकी संस्कृति और सभ्यता के लिपिबद्ध न होने के कारण इनके इतिहास के अध्ययन में निःसंदेह कठिनाई रही है। इसी बात का लाभ उठाते हुए 'सब अल्ट्रॉन स्कूल' के विद्वानों ने 'आदिवासी इतिहास' के नाम पर औपनिवेशिक काल के दौरान शोषण के खिलाफ आदिवासी-विद्रोहों को ही इतिहास के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। जिसके कारण आदिवासी इतिहास से संबंधित हमारी जानकारी-सर्वेक्षणों एवं एकांकी दृष्टिकोण रखने वाले इतिहासकारों के इतिहास तक ही सीमित रही है। इसके अतिरिक्त आदिवासियों के इतिहास संबंधी विभिन्न विद्वानों के मत में भी असमानता है।

मानव-शास्त्रियों का एक बड़ा तबका मानता है कि 'आर्य' मध्य एशिया से इस देश में आये हैं और उनसे पहले से ही यहाँ लोग निवास कर रहे थे। इसी संदर्भ में रामशरण शर्मा लिखते हैं कि ''इस बात के पुरातात्विक और भाषाई साक्ष्य हैं, जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि आर्य भाषा-भाषी मध्य एशिया से भारत वर्ष में आए।''[12] जब बात आदिवासियों के इतिहास से संबंध की हो रही हो, तो यहाँ दो मानवशास्त्रियों का उल्लेख करना अनिवार्य हो जाता है। एक हैं - वेरियर एल्विन और दूसरे जी.एस. (गोविंद सदाशिव) घुर्ये।

एल्विन मानते हैं कि यहाँ का आदिवासी समुदाय आर्यों के आगमन से पूर्व ही यहाँ निवास कर रहा था। ‘‘आदिवासी भारत के वास्तविक स्वदेशी उपज हैं, जिनकी उपस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति विदेशी है।’’[13]

वहीं जी.एस. घुर्ये ने अपनी पुस्तक[14] में आदिवासियों के इतिहास को हिंदुओं के अन्तर्गत ही पिछड़ी जाति के रूप में देखा है। किंतु इसमें संदेह नहीं कि आदिवासी स्वयं को हिंदू नहीं मानते। इस संदर्भ में रंजीत साऊ की टिप्पणी उचित प्रतीत होती है कि, ‘‘आदिवासियों का इतिहास अधिकांशतः उन लेखकों द्वारा लिखा गया है जो औपनिवेशिक सेवा में नियुक्त थे। उन्होंने जनजातियों द्वारा किये गये कार्यों के विनाशक पहलुओं पर जोर दिया तथा राजनीतिक व सांस्कृतिक संस्थाओं में उनके योगदान की उपेक्षा करते हुए एक ऐसी तस्वीर खींची, जो अधूरी और विकृत थी। परिणाम यह हुआ कि आदिवासी जीवन को लेकर आम धारणा आज भी काफी धुंधली और एक पक्षीय है।’’[15]

भारत के एक विस्तृत भू-भाग पर आदिवासी समुदाय सदियों से रहता आया है। 1951 की जनगणना के अनुसार आदिवासी मनुष्यों की संख्या 1 करोड़ 91 लाख थी। 1960 में प्रकाशित सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय की पुस्तक ‘द आदिवासीज’ में हमें उस समय की जनजातीय स्थिति की कुछ जानकारियां मिलती हैं जो इस प्रकार है - "जनजातियों के लोग अर्थव्यवस्था के विभिन्न चरणों में जीवन बिता रहे हैं। ये चरण हैं, इधर-उधर से खाद्य सामग्री इकट्ठी करने या शिकार करने से प्रारंभ कर नये-नये स्थानों पर बसकर खेती करना। बिरहोर, कोरुवा और हिल मारिया जनजातियाँ यहाँ-वहाँ से खाद्य सामग्री इकट्ठी करके और शिकार करके जीवन-निर्वाह करती हैं। बैगा, पौड़ी, भुइंयाँ, गुआंग और कुटियाकंध जनजातियाँ हर बार नये-नये स्थानों पर खेती करती हैं। मुंडा, संथाल और ओरांव लोग मुख्यतः स्थाई रूप से बस कर हल की खेती पर निर्भर हैं। नागाओं ने सीढ़ीदार खेती की प्रणाली विकसित की है, जिसमें जलवाहिनी नालियों से सिंचाई की जाती है। सामाजिक-व्यवस्था में भी विभिन्न जनजातियों के बीच बहुत अंतर है। भारत में मातृ-सत्तात्मक गारो और खासी जनजातियाँ और पितृसत्तात्मक मुंडा, संथाल और अन्य जन-जातियाँ साथ-साथ रहती हैं। ओंगी जैसी कुछ जनजातियाँ लगभग नग्नावस्था में रहती हैं, जबकि भुइंया और गोंड जनजातियों के लोग समुचित वेशभूषा में रहते हैं।’’[16]

यह आदिवासी समुदाय के भीतर ही उनके असमान विकास का उदाहरण है और जैसा कि समाजशास्त्रियों ने माना है कि यह असमान विकास भारत के सामाजिक इतिहास का प्रमुख लक्षण रहा है। किंतु भारत के सामाजिक इतिहास के अध्ययन में प्रायः आदिवासियों के इतिहास का अध्ययन नहीं मिलता है। जब भी आदिवासियों के इतिहास की बात होती है, तो पुरातत्ववेत्ताओं और इतिहासकारों ने प्रायः यह कहकर छुट्टी पा ली है कि आर्यों ने भारत में पहले से रह रहे लोगों का विनाश किया एवं उन्हें जंगलों में खदेड़ दिया। किंतु वे आर्येत्तर समुदाय वास्तव में कौन थे और वैदिक सभ्यता से पूर्व विकसित विश्व की सबसे प्राचीन सभ्यताओं में से एक सिंधुघाटी की सभ्यता से उनके संबंध का क्या इतिहास रहा होगा, इस गहराई में जाकर उसके अध्ययन की कोशिश हमारे इतिहासकारों ने कम ही की है।

भारत में सिंधुघाटी की सभ्यता के राज्य-संस्था के उदय का इतिहास करीब-करीब पांच हजार साल पुराना है। तो क्या यह संभव नहीं है कि यह जनजातीय अवशेषों पर ही आधारित हो?

‘असुर’, भारत में रहने वाला प्राचीन आदिवासी समुदाय है। इस ‘असुर’ शब्द का उल्लेख हमें वेदों और उपनिषदों में भी मिलता है। कुछ विद्वानों का ऐसा मानना है कि झारखंड राज्य में निवास करने वाली ‘असुर’ जनजाति प्राचीन भारतीय साहित्य में उल्लिखित ‘असुरों’ की वंशज हो सकती है। वेदों के भाष्यकार सायण ने कहा है कि, ‘‘मेरू पर्वत पर अमरावती नगर है, जहाँ देवताओं का वास है और मेंरू की तराई में असुरों की नगरी इरावती है।’’[17]

बाद में पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा जब ‘इरावती’ नदी, जो कि ‘रावी’ नदी का संस्कृत नाम है, के किनारे खुदाई की गई तो वहाँ असुरों के एक प्राचीन नगर होने का प्रमाण मिला है, जिसे हम ‘हड़प्पा’ के नाम से जानते हैं।

इसी तथ्य को प्रमाणित करता सूक्त ऋग्वेद के छठे मंडल में मिलता है, जो इसका 27वां सूक्त है। इसमें इंद्र को असुरों के नगर का नाश करने वाला बताया गया है। ऋग्वेद में इस नगर का नाम ‘हरियूपिय’

बताया गया है। कालांतर में जिसे पुरातत्ववेत्ताओं ने हड़प्पा माना है। इन पुरातत्ववेत्ताओं में हरिप्रसाद शास्त्री शामिल हैं। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'लोकायत' में यह माना है कि ''बहुत सारे उल्लेखों में 'असुर' शब्द सिंधु-सभ्यता के निर्माताओं के लिए इस्तेमाल किया गया है।''[18] इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए बी.एस. गुहा का यह कथन गौर करने लायक है कि ''इसमें संदेह नहीं हो सकता कि जिस स्तर पर भारत की सभ्यता आज है, उसमें इन जनजातियों से मिले कई गुण सम्मिलित हैं।''[19]

किंतु इन जटिल तथ्यों के बीच में भारत के सामाजिक इतिहास को समझना आसान काम नहीं है। हमारे पास वेदों और उपनिषदों-पुराणों के रूप में धार्मिक दृष्टिकोण से तो साहित्य उपलब्ध है, लेकिन आदिवासी साहित्य के 'ऑरेचर' होने के कारण जानजातीय इतिहास को समझने के लिए इनकी उपयोगिता को विद्वानों ने संदेहास्पद माना है।

इस संदर्भ में ऐतिहासिक कदम उठाते हुए देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने मार्क्स की इस टिप्पणी- ''अतीत की वास्तविकता, पौराणिकता, परिकल्पनाओं में प्रतिबिंबत है''[20] को ध्यान में रखते हुए जनजातीय इतिहास तक पहुँचने के लिए इन्हीं पौराणिक कथाओं का सहारा लिया है।

श्री चट्टोपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'लोकायत' में 'गण एवं गणपति' अध्याय के अन्तर्गत 'गणपति' की कथा को चुना है, जिसमें हमें विभिन्न जनजातियों की जानकारी मिलती हैं, साथ ही यह पता चलता है, कि जनजातीय व्यवस्था के अवशेषों पर बाद के राज्यों का उदय कैसे हुआ होगा। इस अध्याय के अन्तर्गत उन्होंने सिद्ध किया है कि, " 'गण' का अर्थ कोई समूह या किसी प्रकार का सामूहिक जीवन।''[21]

इसी संदर्भ में आर.जी. भंडारकर का भी कहना है कि ''रूद्रों को गण या जनजातियाँ और गणपति को जनजातियों का नेता कहा जाता है।''[22]

देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय यह रेखांकित करते हैं कि अर्थशास्त्र के कौटिल्य को इस बात से आपत्ति है कि मौर्य समाज का विस्तार तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि वे जनजातीय गणराज्यों को नियंत्रित नहीं कर लेते।

जनजातीय राज्यों के विस्तार का अनुमान हम थॉमस की इस टिप्पणी से लगा सकते हैं कि, ''मगध साम्राज्य के उत्तर में और गंगा के दूसरी ओर बज्जी जनजातियाँ थीं (प्रमुख नगर वैशाली) और इससे आगे उत्तर की ओर मल्ल जन थे। मगध के पश्चिम में काशी जनपद था, जिनका नगर गंगा के तट पर बसा हुआ बनारस था। कोसल राज्य काशी जनपद के उत्तर में हिमालय तक फैला हुआ था और उत्तरी सीमाओं पर शाक्य जन बसे हुये थे। इनसे पूर्व में कोलीय थे। ये सब जनजातियों के नाम थे और उन्हें अंग, मगध आदि क्षेत्रीय नामों के रूप में प्रयोग लाना भ्रामक है।''[23] यही नहीं बौद्ध-धर्म के अन्तर्गत आने वाले साहित्य में 'मौर्य' जनजाति का भी कई बार नाम आता है।

''महापरिनिब्बान सुत में उल्लेख मिलता है, कि 'पिरफलिवन' के मौर्य जनों ने बुद्ध के पवित्र अवशेषों के कुछ अंश पर अपना दावा किया था। लेकिन उन्हें नगण्य सा भाग मिला। लेकिन आगे चलकर शीघ्र ही यही मौर्य जन भारत के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले थे। प्रारंभिक शक्तिशाली राज्यों में से सबसे बड़ा मौर्य राज्य इन्हीं से बना। ऐसा कहा जाता है कि यह नाम 'मोर' शब्द से बना। इससे इन जनजाति के टोटमवादी उद्गम का संकेत मिलता है। मोरिय जनों का मोर पक्षी से संबंध कभी पूर्णरूप से विलुप्त नहीं हुआ, उन्होंने जिस नगर की स्थापना की उसके भवन मोर की गर्दन की भांति नीले पत्थर के थे और नगर में हर समय मोर पक्षियों के स्वर सुनाई देते रहते थे।''[24]

भगवान बुद्ध का एक नाम शाक्यपुत्र भी है। शाक्य एक जनजाति थी।

इन गणराज्यों की विशेषता थी सामूहिक जीवन। इस बात का प्रमाण स्वयं आधुनिक भारत के इतिहासकार देते हैं। स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान ब्रिटिश शासकों ने भारतीयों की शासन क्षमता पर प्रश्न चिन्ह लगाये, जिसने इतिहासकारों के बीच ऐतिहासिक शोधकार्यों को प्रोत्साहन दिया। इस संदर्भ में

के.पी. जायसवाल की ‘हिंदू पॉलिटी’ 1924 काफी चर्चित पुस्तक है, जिसमें इतिहासकार ने यह सिद्ध किया है कि भारत में गंणतंत्र और स्वशासी लोकतंत्र थे। इसमें प्राचीन गणों में संसदीय लोकतंत्र की छोटी-छोटी बातों को खोजने के प्रति इतिहासकार सजग है। उदाहरण के लिए गणतंत्रों में सांसदों के स्थानों की संख्या, प्रस्ताव, कार्य-संचालन के लिए आवश्यक न्यूनतम सदस्य निर्धारण, गणतंत्रों के नियम बनाना आदि। अर्थात् जिस संसदीय लोकतंत्र के लिए भारतीयों को सक्षम नहीं समझा जा रहा था, वहीं संसदीय लोकतंत्र प्रणाली प्राचीन भारत के गणों में प्रचलित थी। इन्हीं ‘गणों’ यानी कि जनजातियों से आगे चलकर राष्ट्र विकसित हुये और राजनीति का उदय हुआ।

किंतु इन संघों के विनाश की आवश्यकता ही क्यों पड़ी? क्योंकि जनजातीय व्यवस्था लोकतांत्रिक थी, जो उभरते हुए राजतंत्रों के लिए घातक सिद्ध हो सकती थी। कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में इसी ओर संकेत करते हैं। कौटिल्य का मानना था कि, ‘‘किसी संघ को अपने अधीन लाना, किसी सेना दंड या किसी समर्थक को अपने अधिकार में लेने से कहीं अधिक अच्छा है। अपनी एकता (या संगठन, संहवत) के कारण ये संघ अपराजेय हैं।’’[25]

इस संबंध में डी.डी. कोसंबी की टिप्पणी विशेष उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं कि, ‘‘सामान्यतः ऐसे संघ बहुत शक्तिशाली हैं और सैनिक शक्ति द्वारा इन्हें नष्ट नहीं किया जा सकता था। यह बात पंजाब में सिकंदर के अभियान से पूरी तरह पुष्ट होती है, जहाँ ऐसी ही जनजातियों ने उसका सबसे बड़ा मुकाबला किया। ‘अर्थशास्त्र’ ने जब यह कहा कि सीधा आक्रमण करके इन संघों को पराजित नहीं किया जा सकता तो यह कोई अतिश्योक्ति नहीं थी।’’[26] अतः यह रेखांकित करने लायक है कि हमारे देश में राजतंत्रों के विकसित होने से पहले जनजातीय गणराज्यों का ही बाहुल्य था एवं कौटिल्य इनकी शक्तियों से परिचित थे। इसीलिए अजातशत्रु के बार-बार हार जाने के कारण ‘आम्रपाली’ का सहारा लेकर वे वज्जी महासंघ में फूट डालने की साजिश करते हैं। ‘वज्जि जनों का संहार’ की पुष्टि इतिहासकार भी करते हैं। जैन साहित्य में इस घटना को ‘बड़े शिलाखंडों’ के साथ हुआ अंतिम युद्ध' बताया गया है।

लेकिन इतिहासकार एल.बाशम मानते हैं कि अजातशत्रु के इन सारे विध्वंशक प्रयासों के बाद भी वज्जि जनजातियों का अस्तित्व पूरी तरह से समाप्त नहीं हुआ था।

गुप्तकाल में, इलाहाबाद का शिलालेख जो समुद्रगुप्त से संबंधित है, के 19वें, 20वें एवं 21वें पंक्तियों में वन क्षेत्र के राज्य का जिक्र आता है, जिन्हें उसने विजित किया और फिर शुल्क के तौर पर मुक्त कर दिया था। उन क्षेत्रों में ब्राह्मणों को ग्राम देकर बसाया गया, जिनके तीन प्रमुख कार्य थे। एक उन क्षेत्रों के आदिवासी शासकों की एक वंशावली बनाकर, श्लोक के द्वारा उनको सूर्यवंश, नागवंश आदि से जोड़ना। इस तरह आदिवासियों का 'क्षत्रियकरण' शुरू कर दिया गया। दूसरा ब्राह्मणवाद को बढ़ाना एवं तीसरा स्वपोषित कृषि के बजाय पशुपालन को व्यावसायिक रूप देना। कुमार सुरेश सिंह ‘चेरों और खेरवारों’ पर लिखे एक लेख में बताते हैं कि पालवंश के अंत के बाद उस रिक्तता को इन्हीं चेरों और खेरवारों ने भरा। असम में अहोम समुदाय के इतिहास के बारे में भी हम जानते हैं। रानी दुर्गावती के इतिहास से भी हम परिचित हैं। किंतु यह अवश्य हुआ कि आर्यों द्वारा कूटनीतियों का सहारा लेकर जनजातीय एकता को तोड़ दिया गया, ताकि वे अपनी स्वतंत्रता फिर से हासिल करने का प्रयास न करें और दूसरा कार्य यह किया कि इन जनजातियों को कृषि कार्यों में लगाया किंतु इस बात पर विशेष बल दिया गया कि इन जनजातियों के मध्य कोई संपर्क न स्थापित हो सके। हालांकि यहाँ यह समझना आवश्यक है कि यह जनजातीय समुदायों का प्राकृतिक-विघटन नहीं था, यह केवल बाह्य षड्यंत्रों का परिणाम था, इसलिए इन जनजातियों में जनजातीय तत्व सदैव विद्यमान रहे। देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय के शब्दों में, ‘‘इससे एक विचित्र सामाजिक स्थिति पैदा हो गयी, जिसमें ऊपर तो निरंकुशवाद रहा और निचले स्तर पर गांवों में अपूर्ण रूप से छिन्न-भिन्न जनजातीय समाज रहा।’’[27]

आदिवासी जीवन में बड़े स्तर पर परिवर्तन हुये औपवेशिक काल के दौरान। आदिवासी क्षेत्र प्राकृतिक संसाधनों के गढ़ थे, जिसका दोहन अंग्रेजों ने इंग्लैंड में चल रही औद्योगिक क्रांति को ईंधन देने के लिए किया। उन्होंने आदिवासी क्षेत्रों पर कब्जा किया और उन्हें अपनी ही भूमि पर बंधुवा मजदूर बनने पर विवश किया।

अपने स्वार्थसिद्धि हेतु आदिवासियों को जन्मजात अपराधी घोषित कर दिया गया। बहरहाल, आजादी के बाद संविधान के अन्तर्गत इस समुदाय को विशेष अधिकार प्राप्त हुए किंतु उनका प्रभावी कार्यान्वयन न होने के कारण आदिवासी आज भी संघर्षरत हैं।

अतः आदिवासी इतिहास बहुत पुराना है। लेकिन इसे नजरअंदाज करने की प्रवृत्ति इतिहासकारों में दिखाई देती है। प्रस्तर युग एवं नवीन प्रस्तर युग के बाद हम सीधे ब्रिटिशकाल में आ जाते हैं। इन वज्जियों की शक्ति, राजगोंडों का शासन हम स्वीकार ही नहीं करना चाहते। किंतु यदि भारत के सामाजिक इतिहास को समझना है, तो जनजातीय विरासत के इतिहास का अध्ययन आवश्यक है।

1.2 आदिवासी समाज संरचना के घटक :

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, आदिम समय से ही सामाजिक जीवन उसकी आंतरिक प्रवृत्ति का अनिवार्य गुण है। इसी के अंतर्गत मानव का दूसरे मानव से तथा उसके आस-पास के वातावरण के साथ अंतःसंबंधों का अध्ययन किया जाता है। सामाजिक संरचना के अंतर्गत किसी समुदाय विशेष की सामाजिक-व्यवस्था अर्थात् पारिवारिक संबंधों एवं उसके अन्य सामाजिक संबंधों का अध्ययन करते हैं। आदिवासी समुदाय का इतिहास बहुत पुराना है। भारत में राजतंत्रों का उदय इन्हीं आदिवासी या जनजातीय व्यवस्था के अवशेषों पर हुआ है। यही कारण है कि भारत के विभिन्न समुदाय की सामाजिक व्यवस्था में आदिम जनजातीयता के लक्षण परिलक्षित होते हैं, जो हमें आदिवासी समुदाय के सामाजिक-संरचना के अध्ययन की ओर प्रेरित करते हैं। किंतु इस संबंध में समाजशास्त्रीय वैज्ञानिक हों, इतिहासकार हों या साहित्यकार इन सब ने अलग-अलग विचार प्रस्तुत किये हैं।

सामाजिक-संरचना एक व्यवस्था है। सामाजिक संरचना के तत्व आपस में जुड़े होते हैं। इस विषय में रेमंड फर्थ लिखते हैं - 'It must be concerned with the ordered relations of parts to a whole, with the arrangement in which the element of the social life are linked together. These relations must be regarded as built up one upon another. They are series of varing orders at complixity."[28]

आदिवासी समुदाय समूहीकृत एवं श्रेणीबद्ध होकर रहते हैं, तथा विभिन्न गतिविधियों को साझा करते हुए अपने सह-अस्तित्व की रक्षा करते हैं।

श्यामाचरण दूबे की राय में - "India Tribal design consist of family then clan, phratry and finally tribe. The minimum sphere for an Indian tribal design will include in itself four sphere i.e. individual forming families, families forming clan or local group and class forming the tribe."[29]

किसी भी समुदाय की सामाजिक-संरचना में परिवार-संस्था का एक अलग महत्व है, जो मुख्यतः स्त्री-पुरुष के आपसी संबंध पर टिका होता है। इसी के माध्यम से वंश-वृद्धि और समाज का विस्तार सुनिश्चित होता है।

भारतीय जनजातियों की सामाजिक-संरचना में भी इस 'परिवार-संस्था' का महत्वपूर्ण स्थान है। यह बात और है कि आदिवासियों के सामाजिक-संरचना की गहरी समझ का दावा करने वाले इतिहासकारों ने आदिवासियों की इस संस्था को 'रोमाँटिसाइज' करने के लिए कई रोमाँचक कहानियाँ गढ़ी हैं तथा उन पर 'सेक्सुअल कम्यूनिज्म' के आरोप लगाकर आदिवासियों में किसी सामाजिक-व्यवस्था के होने का खंडन किया है। लेकिन जैसा कि नदीम हुसैन अपनी पुस्तक 'ट्राइबल इंडिया' में लिखते हैं, "No ethnographic data collected from any part of the world support this hypothesis. In India too the simplest and the rudest of tribal culture's we know, eg. The Andamanese, the Kedar, the Paliyan, the Malapanthram, the Chenchu, the Birhor and other do not furnish us any evidence of promscuity."[30]

भारतीय आदिवासी गैर-आदिवासियों की ही तरह अपने-अपने सांस्कृतिक एवं पारिस्थितिक वातावरण में, सुविधा एवं सामाजिक अनुकूलता के अनुसार विभिन्न प्रकार से 'विवाह' जैसी संस्था का पालन करते हैं, जो कि उनके भी परिवार-संस्था की धूरी है। हालांकि, विभिन्न समूहों में इस सबंध में विविधता है, फिर भी आदिवासी समुदाय की पारिवारिक संरचना मुख्य रूप से विवाह एवं रक्त-संबंधों पर आधारित है।

यहाँ भी दो तरह की परिवार-संस्थायें मिलती हैं , संयुक्त एवं एकल, जो कि मूलतः परिवार में सदस्यों की संख्या द्वारा निर्धारित होती हैं.

एकल परिवार : इस प्रकार की परिवार संस्था में विवाहित स्त्री-पुरुष एवं उनके बच्चे शामिल होते हैं। इस तरह के परिवार में सदस्यों की संख्या सीमित होती है। विभिन्न आदिवासी समूहों, बिरहोर, परिया, कोरवा आदि में इस तरह की एकल-व्यवस्था प्रचलित है।

संयुक्त परिवार : संयुक्त परिवार में पति-पत्नी एवं बच्चों के अतिरिक्त अन्य करीबी रिश्ते भी शामिल होते हैं, जैसे कि माता-पिता, सास-ससुर, देवर-जेठ आदि।

केरल के 'नायरों' में संयुक्त परिवार की व्यवस्था प्रचलित है। परिवार का सबसे बुजुर्ग व्यक्ति ही परिवार का मुखिया होता है एवं संपत्ति पर परिवार के प्रत्येक सदस्य का बराबर स्वामित्व होता है।

विवाह द्वारा निर्मित परिवार :

हालांकि आदिवासी समुदायों में मुख्य रूप से 'एक पत्नीक व्यवस्था' का ही प्रचलन है, किंतु बहुविवाह की परंपरा का पालन करने वाले आदिवासी समुदायों की संख्या भी कम नहीं है तथा ये पूरे भारत में पाये जाते हैं।

‘खड़िया’ जनजाति जो मुख्य रूप से झारखंड, उड़ीसा, बंगाल में पायी जाती है, में बहुपत्नी प्रथा है। यहाँ तलाक की अनुमति मिलती है, जिसके कारण परस्त्रीगमन, बांझपन, क्रूर-व्यवहार आदि हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त परिवार की सत्ता, वंशनुकूलता आदि के आधार पर भी भारतीय आदिवासियों की पारिवारिक संस्था की प्रकृति निर्धारित होती है। जैसे कि मातृसत्तात्मक या पितृसत्तात्मक परिवार।

मातृवंशीय परिवार :

इन परिवारों में ‘सत्ता’ माता के हाथ में होती है। माता के नाम से ही वंश का विकास देखा जाता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत विवाह के उपरांत पत्नी नहीं बल्कि पति, अपनी पत्नी के घर पर रहता है। अतः सभी कार्यों चाहे आर्थिक हो या सामाजिक, स्त्री का उसमे महत्वपूर्ण सहयोग होता है।

मेघालय की खासी जनजाति एवं केरल के ‘नायर’, इस तरह की परिवार व्यवस्था के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इस संदर्भ में डी.एन. मजूमदार की टिप्पणी है, - "The Khasi family grows round a nucleus at blood-related females who are surrounded by fringe of male-unmarried brothers and sons, fathers and husbands and whereas property, authority, religion, residence are all in the hands of women, menfolk also are respected and even excercise some authority. The all powerful khasi women addresses her husband as her Lord."[31]

संबंधों का महत्व :

भारत के अन्य लोगों की तरह ही आदिवासियों में दो तरह के संबंध पाये जाते हैं - रक्त संबंध एवं दूसरे वे संबंध जो विवाह-संस्था द्वारा जुड़ते हैं।

आदिवासी समुदाय संबंधों को विशेष महत्व देता है। इसका कारण है कि प्रत्येक जनजाति किसी न किसी पूर्वज से ही अपनी उत्पत्ति मानती है। लेकिन आदिवासी समाज में रक्त-संबंध से ज्यादा महत्व उसकी सामाजिक मान्यता को मिलता है।

नीलगीरि की ‘टोडा’ जनजातियां, जिनमें 'सहमातृ बहुपति विवाह' का प्रचलन है, पिता का संतान से संबंध रक्त द्वारा नहीं बल्कि सामाजिक मान्यता के अनुसार ‘धनुष और बाण’ संस्कार द्वारा तय किया जाता है। वहीं मातृवंशीय जनजातियों खासी, नायर आदि में ‘एवनकुलिज्म’ प्रथा का प्रचलन है, जिसमें मामा और उसकी बहन के संतानों के मध्य विशेष संबंध होता है जो उनके पिता के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का भी अतिक्रमण करता है।

इस सामाजिक-संरचना को कायम रखने के लिए प्रायः एक सरल राजनीतिक-व्यवस्था आदिवासी समुदायों की प्रमुख विशेषता है, जो प्रायः लोकतांत्रिक व्यवस्था पर ही आधारित होती है। यह व्यवस्था जनजातियों को संगठित रखती है एवं उनके दैनिक-जीवन में आने वाली परेशानियों को सामूहिक सहमति से हल करने का कार्य करती है। मोटे तौर पर, हर ‘गांव’ में एक मुखिया होता है जिसे परामर्श देने के लिए गांव के ही बुजुर्गों की एक परिषद होती है। आदिवासी समाज में प्रचलित संस्कारों एवं अनुष्ठानों के लिए ‘मुखिया’ की अनुमति आवश्यक होती है।

भारत के प्रमुख आदिवासी समुदाय तथा उनकी सामाजिक एवं राजनीतिक संरचना :

2011 की जनगणना के अनुसार 8.9 प्रतिशत आदिवासी जनसंख्या के साथ भारत, अफ्रीका के बाद दुनिया का सबसे बड़ा देश है। 1935 तक आदिवासी क्षेत्र मुख्य रूप से दो क्षेत्रों में विभक्त थे। एक क्षेत्र

ऐसा था जहाँ के आदिवासी बाहरी लोगों के संपर्क में थे, वहीं दूसरा क्षेत्र था जहाँ वे पूरी तरह से मुख्यधारा के लोगों से अलग-थलग रहते थे और यह क्षेत्र था उत्तर-पूर्व का। हालांकि इन दोनों ही क्षेत्रों के आदिवासी अपनी सभ्यता एवं संस्कृति को अपनी पहचान से जोड़ कर देखते थे किंतु उत्तर पूर्वी भारत के आदिवासी इस संदर्भ में ज्यादा संवेदनशील थे। इसलिए ही 'गोपीनाथ बारदोलोई कमिटी' ने यह सिफारिश की कि स्वतंत्रता के पश्चात् पांचवीं एवं छठी अनुसूची के अन्तर्गत जनजातीय क्षेत्रों को शामिल करना चाहिए। इन दोनों ही क्षेत्रों के आदिवासियों की सामाजिक संरचना एवं रीति-रिवाजों में पर्याप्त असमानताएँ नजर आती हैं।

इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता कहती हैं कि, 'पूर्वोत्तर के आदिवासी समाज ने व्यापक स्तर पर अपनी भाषा, बोली, संस्कृति व जीवन शैली बचाकर रखा है। इसका एक मुख्य कारण इस क्षेत्र के दुर्गम होने के चलते इस क्षेत्र में आर्य संस्कृति का प्रवेश न हो पाना या कम होना है। धर्मपरिवर्तन भी हुआ तो वहाँ के राजनीतिक समूहों ने अपनी संस्कृति, जीवन-शैली या भाषा पर असर नहीं पड़ने दिया, उल्टे उनकी भाषाओं को ईसाई मिशनरियों ने लिपि देकर उन्हें शिक्षित करने का कार्य किया, जिससे वे पढ़-लिख गये, उन्होंने कुछ नए तौर-तरीके या बाहरी अदब व सलीकों की सीख ली, लेकिन अपनी विरासत नहीं छोड़ी।''[32] अतः इन दोनों क्षेत्रों के आदिवासी समुदायों में असमानता के भौगोलिक एवं ऐतिहासिक कारण रहे हैं।

यदि हम भारत के आदिवासी समुदायों के राजनीतिक संगठन की बात करें तो इनके वातावरण एवं तकनीकि विकास के अनुसार इसके विभिन्न रूप नजर आते हैं। एक तरफ दक्षिण भारत की शिकारी खानाबदोश जनजातियाँ कदार, इरूला, चेंचु आदि हैं, जिनका रहन-सहन अत्यन्त आदिम प्रकृति का है, तो वहीं दूसरी ओर पूर्वोत्तर भारत में मेघालय की गारो एवं खासी तथा अरूणाचल प्रदेश की 'आपतानी' जनजातियाँ हैं जो तकनीकि विकास के बल पर तुलनात्मक रूप से ज्यादा सुविधापूर्ण जीवन-यापन कर रही हैं। इन्हीं कारणों से उनके सामाजिक एवं राजनीतिक-संगठन में भी विविधता के

दर्शन होते हैं। कहीं तो विकेंद्रीत राजनीतिक-व्यवस्था नजर आती है, तो वहीं दूसरी ओर केंद्रित राजनीतिक व्यवस्था।

पूर्वोत्तर भारत के आदिवासी समुदाय :

असम के आदिवासियों में लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था मिलती है, जहाँ जमीनों पर सामूहिक अधिकार होता है। किसी एक गांव का आदिवासी किसान किसी दूसरे गांव में जाकर भी कृषि-कार्य कर सकता है। विभिन्न आदिवासी परिवारों की आर्थिक-स्थिति भिन्न हो सकती है, लेकिन इससे सामाजिक संरचना में कोई विशेष स्तरीकरण दिखाई नहीं पड़ता।

चूंकि पूर्वोत्तर के आदिवासी क्षेत्रों को संविधान की छठी अनुसूची के अन्तर्गत रखा गया है। अतः इन्हें अपनी जमीन एवं जंगल से प्राप्त होने वाली वस्तुओं, भाषा-संस्कृति एवं रीति-रिवाजों के प्रबंधन एवं संरक्षण का अधिकार प्राप्त है। आदिवासी दर्शन के अनुसार ही यहाँ के निवासी आदिवासियों में सामूहिक जीवन शैली प्रचलित है। राभा, बोड़ों, कार्बी आदि असम की प्रमुख आदिवासी जनजातियाँ हैं।

'राभा', मातृवंशीय आदिवासी समुदाय है। इनकी आर्थिक संरचना कृषि आधारित है। स्त्री-पुरुष दोनों ही खेतों में कार्य करते हैं। चारू मोहन राभा, 'राभा जनजाति : एक परिचय' में लिखते हैं कि, ''राभा समुदाय में बाराई पद्धति प्रचलित है। बाराई का अर्थ गोत्र है, जो राभा समुदाय में मातृपक्ष से संबंधित है। माँ का गोत्र ही संतान का गोत्र होता है, लेकिन संपत्ति के बंटवारे के समय पिता की संपत्ति पुत्र को मिलती है और माँ की संपत्ति पुत्री को। सामाजिक संरचना में माता-पिता को बराबरी का दर्जा दिया गया है और समाज में दोनों की अहमियत बराबर है। खासी समुदाय की तरह राभा समुदाय में नारी का स्थान सर्वोपरि भले ही नहीं है, फिर भी नारी को बराबरी का स्थान दिया गया है और वह पुरुष की दासी नहीं मानी जाती।''[33]

राभा आदिवासियों के विपरीत, बोडो आदिवासी समुदाय एक पितृसत्तात्मक समाज है लेकिन स्त्रियों को अपना वर चुनने की स्वतंत्रता है। ऐसा माना जाता है कि बोड़ो समुदाय, भारत में आर्यों से भी पहले का समुदाय है, जिन्होंने असम में सबसे पहले धान की खेती शुरू की थी। उनका अपना 'बोड़ो' राज्य भी हुआ करता था।

अरूणाचल प्रदेश के 'आपातानी' आदिवासियों एवं मिजोरम के 'मिजो' जनों में किसी भी स्थानीय विवाद को हल करने के लिए गांव के बुजुर्गों की एक परिषद् होती है। कभी-कभी यह न्याय करना गांव के 'पुजारी' के जिम्मे भी होता है। अरूणाचल प्रदेश की 'आदि' समुदाय में 'केवाड़' नामक प्रथा प्रचलित है। 'केवाड़' का चुनाव गांव के लोग ही करते हैं, जो परिषदों का नेता होता है। 'बुलंग' समाज के व्यक्तियों के बीच कानून एवं शांति-व्यवस्था की निगरानी 'करता है। 'नेहाबुलियाँग' ग्रामीण प्रशासन का प्रमुख होता है।

आपातानी' समाज में पैतृक संपत्ति का मालिक बड़ा पुत्र होता है। स्त्रियों को अपना वर चुनने का अधिकार प्राप्त है लेकिन कुछ गोत्र संबंधी प्रतिबंधों के साथ। इस आदिवासी समुदाय में प्राचीन काल की संस्कृति-सभ्यता के लक्षण आज भी मौजूद हैं। समाज की इकाई परिवार संस्था ही है। संयुक्त परिवार का आदर्श उदाहरण है 'आपातानी' समुदाय जहाँ पति-पत्नी, बच्चे, सास-ससुर, दादा-दादी सभी साथ रहते हैं। ''उनका सामाजिक ढांचा उनके मानवीय मूल्यों और नियमों के अनुसार तय होता है, जो उनके पड़ोसी कबीलों के समानांतर नहीं बल्कि भिन्न है। सामाजिक व्यवस्था, स्थायित्व, एकता और कबीले की आंतरिक तथा पड़ोसी कबीलों के साथ एक जुटता के सिद्धांत से संचालित होती है। आपातानियों की ये सामाजिक-व्यवस्था उनकी एक जाति, एक जैसी भाषा के कारण अपनी संस्कृति, धर्म, रिवाज और अन्य परंपराओं से भी आर्थिक शक्ति अर्जित करती है।''[34] रक्त से संबंधित रिश्तों में तथा सगोत्रीय विवाह की अनुमति यह समुदाय नहीं देता। एकल विवाह की परंपरा है, लेकिन पत्नी बांझ है तो उसकी रजामंदी से पति दूसरा विवाह कर सकता है। आपातानी समुदाय सात गांवों के भीतर ही 'गुइची एवं गुटी' (वर्ग) तथा स्टेटस (आर्थिक स्तर) के अनुसार विवाह की इजाजत देता है।

मिजोरम की मिजो जनजातियों में मिजो गांव एक उप-परिवार की तरह ही होता है और गांव का मुखिया उस परिवार का पिता व शासक भी होता है। किसी बालक का जन्म, गांव में कोई शादी या वार्षिक पर्वों पर आयोजित सामुदायिक भोज आदि ऐसे मौके होते हैं, जिनमें सारा गांव भागीदार होता है।

मिजो समाज एक पितृसत्तात्मक समाज है, लेकिन स्त्रियाँ आत्मनिर्भर होती हैं। हालांकि एल.टी. लियाना खियाज्ते की यह टिप्पणी मिजो स्त्रियों की समाज में स्थिति पर प्रश्न खड़ी करती हैं। वे लिखते हैं, ‘‘प्राचीन समय में मिजो यह मानते थे कि स्त्रियों और केकड़ों का कोई धर्म नहीं होता अर्थात् स्त्रियों को केवल अपने पति या पिता वाले धर्म का पालन करना पड़ता है। स्त्री के माता-पिता या पति के साखुआ ही उसके भले-बुरे या कल्याण के लिए उत्तरदायी होते हैं। सामाजिक रीति-रिवाज व कानूनी मामलों में पुरुष प्रधान प्रणाली ही प्रचलित थी। इन सारी बातों के बावजूद मिजो स्त्रियाँ सदैव संघर्षशील रही हैं।’’[35]

मेघालय के प्रमुख आदिवासी समुदायों में गारो, खासी एवं जयन्तिया शामिल हैं। ये आदिवासी समुदाय मातृसत्तात्मक-मातृवंशीय हैं। इनके बारे में कहा जाता है कि, ‘‘यहाँ गणतंत्र के नियम भी माँ के चूल्हे की आग के गिर्द बैठकर चाचाओं, पिताओं ने बनाये हैं और स्त्री को घर का केंद्र माना जाता है। स्त्री को मुकुट पहना कर, एक गरिमा प्रदान करने वाले इस क्षेत्र में गोत्र भी माँ के वंश से ही चलता है और संपत्ति पर भी छोटी पुत्री का हक होता है।’’[36]इस समाज में पति शादी के बाद पत्नी के घर में रहता है और यहाँ औरतें आत्मनिर्भर होती हैं, गुलाम नहीं होती। लेकिन जैसा कि रिम्बाई का मानना है कि खासी समुदाय में स्त्रियों का ही शासन चलता है यह बात सच नहीं है। स्त्रियों का संपत्ति पर अधिकार तो है लेकिन निर्णय पुरुष ही लेता है पिता या भाई के रूप में। खासी समुदाय में एक 'लोकोक्ति' बहुत प्रचलित है जिससे स्त्रियों की सटीक स्थिति समझी जा सकती है कि - "वह दिन बहुत ही शोकमय होगा जब मुर्गी बांग देने लगेगी।’’[37]

स्त्रियों की यही स्थिति एक अन्य मातृवंशीय आदिवासी समुदाय 'गारों' में भी मिलती है। 'गारो' नोक्रोम जनजाति परिवार में दामाद से विवाह की प्रथा भी प्रचलित है, जिसका कारण संपत्ति के अधिकार से संबंधित है।

मेघालय के इन आदिवासी समुदायों में प्राचीन काल से ही त्रिस्तरीय गणतांत्रिक व्यवस्था का प्रचलन रहा है, जिसमें आधुनिक लोकतंत्र के बीज मिलते हैं। ''इनके गणतंत्र में इनके 'सिएम' यानी शासक या प्रधान को राजा सिएम, देवता सिएम, माँ सिएम और गुलाम सिएम के नाते जनता की सेवा करनी होती है। उनकी इस व्यवस्था में कोई प्रजा या रैयत नहीं बल्कि सभी नागरिक होते हैं और यही नागरिक मालिक होते हैं। उनका उपाधिधारी शासक जो सिएम कहलाता है, चुना हुआ होता है। ग्रामीण परिषद् जिसमें गांव का प्रत्येक बालिग पुरुष भाग लेता है, की राय में उनका सिएम दंड देने, हथकड़ी या जुर्माना तो लगा सकता है लेकिन उस सिएम को टैक्स लगाने का अधिकार प्राप्त नहीं है। सारी जमीन जनता की होती है। जनता ही मालिक होती है और समाज सर्वोपरि।''[38]

नागालैंड, असम, अरूणाचल प्रदेश एवं मणिपुर के पश्चिमी हिस्सों में पायी जाने वाली नागा जनजातियों - अंगामी, फोम आओ, कोन्याल, ईमचुंगार, तांगखुल आदि की सामाजिक-संरचना में पितृसत्तात्मक एवं पितृवंशीय व्यवस्था पायी जाती है। इन आदिवासी समुदायों की राजनीतिक-संरचना में भी विभिन्नता है। कुछ नागा जनजातियों में एक गांव-प्रधान होता है जो प्रायः निरंकुश शासक की तरह कार्य करता है। कोन्याक जनजाति इसका उदाहरण है। इसमें 'चीफ' को आदिवासी भाग्य तथा धर्म-सिद्धांतों का प्रतीक माना जाता है। वहीं कुछ नागा जनजातियाँ लोकतांत्रिक व्यवस्था का पालन करती हैं।

'अंगामी' जनजातियों में मूल इकाई उनका गांव नहीं होता बल्कि 'खेल' होता है, जो उनकी जनसंख्या का बर्हिविवाह उपप्रभाग है। इस खेल या तेप्फू को एक ही पूर्वज का वंशज माना जाता है।

नागा जनजातियाँ ‘प्रधान’ को प्राकृतिक आपदाओं एवं अदृश्य शक्तियों के खिलाफ सुरक्षा कवच के रूप में देखती हैं।

‘लेपचा’ आदिवासी समुदाय सिक्किम, मेघालय तथा पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग जिले में निवास करता है। वे स्वयं को ‘‘मुतांची रोंग कुप रोम कुप’’[39] कहते हैं जिसका अर्थ है माँ प्रकृति एवं ईश्वर के प्रिय बच्चे। इनको प्रकृतिवादी एवं जन्मजात वनस्पतिशास्त्र का ज्ञाता माना जाता है। यह पशुपालन एवं खेती कार्य करने वाली शांतिप्रिय जनजाति है। इनका बौद्धधर्म के प्रति विशेष झुकाव है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत के आदिवासी मुख्यधारा से रहन-सहन, संस्कृति में अलग हैं, लेकिन ये दूसरे आदिवासी क्षेत्रों से भी बहुत मेल नहीं खाते। इनमें स्थानीय भिन्नता पाई जाती है। आदिवासी सामाजिक सरंचना के संदर्भ में श्यामचरण दूबे 'आदिवासी धरोहर' में लिखते हैं कि, ‘‘जनजातियों के सामाजिक संगठन के स्वभाव और उसकी जटिलता में बहुत भिन्नता पाई जाती है। ....भारत के अधिकांश भागों के आदिवासी समूहों में पुरुष की प्रधानता है और इनमें उत्तराधिकार का निर्णय पिता की पंक्ति में होता है। इसके विपरीत दक्षिण और उत्तर-पूर्व में उत्तराधिकार मातृधारा द्वारा निर्मित होते हैं और उनके पारिवारिक गठन मातृप्रधान होता है।’’[40]

मध्य हिमालय एवं उत्तर पश्चिम क्षेत्र के आदिवासी :

‘थारू’ इस क्षेत्र की प्रमुख जनजाति है। यहाँ प्रमुख इकाई परिवार होता है। कई परिवार मिलकर ‘कुरी’ या ‘क्लान’ बनाते हैं, कई कुरी मिलकर ‘मोइति’ बनाते हैं, जिनसे एक पूरी जनजाति या ‘ट्राइब’ बनती है। ‘थारू जनजाति’ पितृसत्तात्मक-व्यवस्था का पालन करती है। स्त्रियों की स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी है।

‘खस’ आदिवासी समुदाय दूसरा प्रमुख आदिवासी समुदाय है। यह दो वर्गों में विभाजित है - जौनसारी खस एवं बवारिस खस।

मुख्यधारा के प्रभाव के कारण इस समाज में स्तरीकरण दिखता है जहाँ ‘खस’ जनजाति तीन उपवर्गों में विभाजित है, उच्च, मध्य एवं निम्न जनजाति। ये उपवर्ग फिर से विभाजित है विभिन्न श्रेणियों में जैसे ब्राह्मण, राजपूत, सुनार, लोहार आदि।

'भोटिया' जनजाति में पितृसत्ता एवं पितृवंशीय परंपरा का पालन होता है लेकिन यहाँ स्त्रियों को भी उचित स्थान मिला है। पुरुष की अनुपस्थिति में ‘स्त्री’ ही घर की मुखिया होती है।

उत्तर-पश्चिम क्षेत्रों के आदिवासियों की सामाजिक संरचना भी लगभग इसी प्रकृति की है। जैसे कि पंगवाला समुदाय।

'बकरवाल' समुदाय के साथ 'गुज्जर' जम्मू-कश्मीर का तीसरा सबसे बड़ा समुदाय है। गुज्जर आदिवासी स्वयं को पहले ‘खाप’ फिर क्लान, उसके बाद ‘परिवार’ (जो सामाजिक ईकाई है) में बांटते हैं। यह परिवार पितृसत्तात्मक प्रवृति का ही अनुसरण करता है।

मध्य एवं पश्चिम भारत के आदिवासी समुदाय एवं उनका गठन :

आदिवासी जनसंख्या की दृष्टि से यह क्षेत्र भारत का सबसे बड़ा आदिवासी क्षेत्र है। इसमें मध्यप्रदेश, उड़ीसा, गुजरात, छत्तीसगढ़, झारखंड, महाराष्ट्र एवं पश्चिम बंगाल के आदिवासी क्षेत्र शामिल हैं। इन क्षेत्रों के प्रमुख आदिवासी समुदाय हैं - भील, गोंड, मुंडा, उराँव, खड़िया, संथाल, हो, बिरहोर, बैंगा, खोंड आदि।

भारत का सबसे बड़ा आदिवासी समुदाय है - भील आदिवासी समुदाय। यह मुख्यधारा के संस्कारों से सबसे ज्यादा प्रभावित आदिवासी समुदाय है। ऐसा माना जाता है कि, ‘‘मुगलों के विरुद्ध राणा प्रताप के संघर्ष में भीलों ने राणा प्रताप का खूब समर्थन किया था।’’[41]

भील समुदाय में पितृसत्तात्मक-व्यवस्था का ही प्रचलन है। कुछ भिन्नता लिये यहाँ परिवार की प्रकृति संयुक्त परिवार की है। यहाँ विवाह के बाद पुत्र पिता के साथ नहीं रहता लेकिन पिता उसकी देखरेख करता है।अब ‘‘भील अंतर्विवाही क्षेत्रीय श्रेणियों में बंट गये हैं और उनमें भी ढेरों कुल और प्रजातियाँ हो गई हैं।’’[42]

वेरियर एल्विन ने भीलों के गांवों को तीन तरह का बताया है - "बहुजाति ग्राम, सघन भील गांव एवं बिखरा गांव। भील समुदाय में बहुत एकता भी होती है। मेवाड़ गजेटियर में इस बात का उल्लेख है कि भील-गांव में जब कभी आपात स्थिति उत्पन्न होती है और सबको एकजुट होकर काम करना होता है, तो जोर की ‘किल्की’ दी जाती है, जो दूर तक सुनाई देती है।’’[43]

भील समुदाय में उनकी पहचान उनके गांव से निर्धारित होती है, न कि उनके नाम से। ‘हलमा’ नामक रस्म के अन्तर्गत भील आदिवासी एक दूसरे की सहायता करते हैं तथा उस सामूहिकता का परिचय देते हैं, जिसके लिए आदिवासी समुदाय जाना जाता है। भीलों का नेता ‘भाँजगडिया’ कहलाता है तथा इनका मुखिया 'गमेती'। कोई भी अनुष्ठान हो ‘गमेती’ की अनुमति आवश्यक है। भील सगोत्रिय विवाह नहीं करते हैं। बड़े अधिकारी ‘पुजारो’ या ‘बड़वा’ कहलाते हैं। इस समुदाय द्वारा आर्यभाषा परिवार की ही एक भाषा ‘भीली’ बोली जाती है।

गोंड समुदाय, भीलों के बाद भारत का दूसरा प्रमुख आदिवासी समुदाय है। हिंदू धर्म का विशेष प्रभाव गोंड समुदाय पर दिखता है। मुख्यतः यह एकविवाही परिवार है। यहाँ विवाह के कई प्रकार प्रचलित हैं, जैसे - सेवा विवाह, सहपलायन, विनिमय विवाह आदि। सगोत्रिय विवाह भी प्रचलित है। यह पितृसत्तात्मक परिवार है, जहाँ स्त्रियों को पिता की संपति का हिस्सा देना वर्जित है। प्रत्येक गांव की एक अपनी पंचायत होती है। प्रत्येक पंचायत में दो प्रमुख अधिकारी होते हैं जिनमें एक जन-संबंधी कार्यों की निगरानी करता है, दूसरा धार्मिक कार्यों की। गांव के प्रधान को पटेल, मंडल या भोई कहते

हैं, जिसकी सहायता हेतु बुजुर्गों की एक परिषद् होती है। यह समुदाय की भाषा ‘गोंडी’ है जो द्रविड़ भाषा परिवार से संबंध रखती है।

आदिवासियों के अस्तित्व व अस्मिता के संघर्ष का प्रतीक राज्य झारखंड में लगभग बत्तीस आदिवासी समुदाय निवास करते हैं, जिनमें संथाल, ऊँराव, मुंडा, हो आदि प्रमुख हैं।

संथाल : यह झारखंड का सबसे बड़ा आदिवासी समुदाय है जो आस्ट्रीक प्रजाति से संबंध रखता है। इनकी पारिवारिक संरचना पितृसत्तात्मक एवं पितृवंशीय है। संथालों में गोत्र-प्रथा एवं अन्य संस्कारों का कड़ाई से पालन किया जाता है। मुख्यतः एकल परिवार ही होते हैं। इनमें प्रायः एकपत्नीक विवाह परंपरा का ही पालन होता है। प्रत्येक गांव में एक पंचायत होती है जिसका ‘प्रधान’ अथवा ‘माँझी’ वंशानुगत होता है। आर्थिक-संरचना कृषि आधारित है।

ऊँराव : यह समुदाय द्रविड़ कुल से संबंधित है। यह एकल पितृसत्तात्मक समुदाय है, जो विभिन्न बर्हिविवाही गोत्रों में विभाजित है। इनका मुख्य व्यवसाय कृषि है। ‘‘भूमि तीन भागों में बंटी होती हैं - भूमिहारी, रैयती एवं जमींदारों की भूमि। इसे 'मंझिहारी' कहा जाता है। ऊराँव गावों के मंडला को ‘परहा’ कहा जाता है। प्रत्येक गांव में तीन अधिकारी होते हैं - 1. पहान, यह गांव का पुजारी होता है और सारे धार्मिक कार्य संपन्न कराता है। 2. ‘पनभरा’, यह पुजारी की सहायता के लिए होता है और ‘महतो’, यह गांव का राजनीतिक-प्रशासनिक अधिकारी होता है।’’[44] यहाँ ‘अखरा’ नामक एक प्रमुख सामाजिक संस्थान है जहाँ गांव के बुजुर्ग और प्रमुख इकट्ठे होकर जरूरी मुद्दों पर विचार-विमर्श करते हैं।

मुंडा : छोटानागपुर क्षेत्र में मुंडाओं का इतिहास बहुत पुराना है। ‘‘ई.पू. 600 में ये लोग पश्चिम (विन्ध्याँचल रेंज) से यहाँ आये थे।’’[45]

मुंडा समाज भी - पितृसत्तात्मक समाज है और ‘गोत्र’ ही समाज की मुख्य इकाई होती है। इनके गोत्रों के नाम - नाग, कमल, हंस आदि पशु-पक्षी, पेड़-पौधों पर ही आधारित होते हैं। विवाह बहिर्गोत्रीय होता है तथा बहु-विवाह प्रचलित है। ‘‘मुंडा समाज दो भागों में विभक्त है - महलीको और कोम्पाट

मुंडको। इनकी एक उपशाखा ‘कोल’ कहलाती है।’’[46] यह समुदाय जीवन यापन के लिए कृषि पर आधारित है। इनकी पंचायत व्यवस्था 'परहा-पंचायत कहलाती है। ‘मुंडा’ गांव का प्रधान होता है जो गांव के सभी सामाजिक कार्यों की जिम्मेदारी लेता है। उराँव की भांति ही यहाँ भी ‘अखरा’ पंचायत होती है।

हो : यह आदिवासी समुदाय आस्ट्रिक प्रजाति का है। यह भी कृषि-आधारित पितृसत्तात्मक समाज है। ‘‘इनका गांव कई टोलों में बंटा होता है। जो गांव के बीच में ‘अखरा’ की तरह सामाजिक कार्यों के लिए सभास्थल का कार्य करता है। उनके घर अक्सर ऊँची जगहों में बने होते हैं। ये सामान्यतः मिट्टी के होते हैं और उन पर घासफूस की छत डाली जाती है। घर की दीवारों को मिट्टी से लेपकर लाल-पीले रंग से पोत दिया जाता है। ‘हो’ क्षेत्र पांच से लेकर बीस गांवों के समूह में बंटा होता है। इसे ‘पीर’ कहा जाता है। इसका प्रधान 'मानकी' कहलाता है। वह गांव की हर गतिविधि के लिए जिम्मेदार होता है।’’[47]

बिरहोर : ये भी आस्ट्रिक प्रजाति से संबंध रखने वाले आदिवासी हैं। ‘‘बिरहोर खानाबदोश आदिवासी हैं। कुछ समय पहले तक ये किसी निश्चित स्थान पर नहीं रहते थे।’’[48] ये समुदाय भी पितृसत्तात्मक एवं पितृवंशीय हैं। डॉ. वीर भारत तलवार के अनुसार बिरहोर आदिवासी आदिवासियों में भी आदिवासी हैं। किंतु स्त्रियों को महत्व दिया जाता है। इनमें सगोत्रिय विवाह नहीं होते हैं।

असुर : ये भी आस्ट्रीक परिवार से संबंध रखते हैं। ‘‘असुर तीन प्रकार के हैं - बिर असुर, बिरजिया असुर और अगरिया असुर।’’[49] ये स्वयं को वैदिक-पुराणों में वर्णित असुरों का वंशज मानते हैं। गांव में एक मुखिया होता है, जो ‘महतो’ के नाम से जाना जाता है। ‘अखड़ा’ पंचायत के माध्यम से विवादों का निपटान किया जाता है।

दक्षिण भारत के प्रमुख आदिवासी समुदाय एवं उनकी सामाजिक-संरचना :

दक्षिण भारत के आदिवासी समुदाय आर्थिक एवं तकनीकि रूप से भारत के अन्य क्षेत्र के आदिवासियों से भी काफी पिछड़े हैं। ये आदिवासी समुदाय छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होकर जंगलों

में रह रहे हैं। इनमें बाहरी लोगों के संपर्क में आने के प्रति एक प्रतिरोध देखा जाता है। इनकी सामाजिक संरचना में गोत्र एवं परिवार का विशेष महत्व होता है। कबीलों के नाम क्षेत्र आधारित होते हैं।

टोडा : यह समुदाय नीलगिरि की पर्वत श्रृंखलाओं में निवास करता है। ये छोटे समूहों में 'माँड' या 'झोपड़ी' बनाकर रहते हैं।

''टोडा आदिवासी दो भागों में विभाजित हैं - टारयरोल और ताइवलिओल। दोनों के अपने-अपने काम निर्धारित हैं। टोडा समुदाय में कुल का विशेष महत्व है। एक कुल में कई परिवार हैं, जिन्हें 'कुडुपेली' कहा जाता है।''[50] इस समुदाय में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित है। स्त्रियों की पवित्रता को शुचिता से जोड़कर नहीं देखा जाता है। लेकिन फिर भी उन्हें पर्याप्त अधिकार प्राप्त नहीं है। अर्थव्यवस्था पशु-आधारित है विशेषकर भैंस आधारित। गांव में पंचायत की व्यवस्था होती है, जो पांच बुजुर्गों से मिलकर बनती है एवं 'नैत्र' कहलाती है। बाहरी लोगों से इस टोडा समुदाय ने सदैव दूरी बनाये रखी है।

अदियार : यह केरल के प्रमुख आदिवासी समुदायों में से एक है। इनके अपने छोटे-छोटे 'माँडू' होते हैं जिन्हें बड़क माँडू, तिरूनेली माँडू तथा पोयोन माँडू के नाम से जाना जाता है। ये सभी नाम निवास स्थान के अनुसार निर्धारित होते हैं। गांव के प्रमुख का पद आनुवांशिक होता है। यदि पुत्र योग्य न हो तो 'भतीजे' को गांव प्रमुख का पद प्राप्त होता है, अंतः यहाँ पितृसत्तात्मक एवं पितृवंशीय व्यवस्था ही प्रचलित है।

अन्य खानाबदोश आदिवासी समुदायों - अलार एवं अरानदार में कोई ग्राम प्रधान नहीं होता। सामुदायिक कार्यों के वहन के लिए बुजुर्गों की एक सभा बुलाई जाती है, जिसके निर्णय बाध्य होते हैं।

'कदार', एक अन्य खानाबदोश समुदाय है जहाँ कोई प्रधान नहीं होता, न ही कोई कुल-व्यवस्था मिलती है। अपनी जीविका के लिए ये पूरी तरह से जंगलों पर निर्भर हैं एवं आदिवासियों में भी अत्यन्त पिछड़े आदिवासी है।

1.3 आदिवासी समाज : सांस्कृतिक संरचना के घटक :

किसी भी समुदाय के अध्ययन के लिए दो बातें आवश्यक हैं, पहली उस समुदाय-विशेष की सामाजिक संरचना तथा दूसरी सांस्कृतिक संरचना। क्योंकि किसी भी समाज की सामाजिक संरचना के पीछे जो तत्व काम करता है वह है सांस्कृतिक मूल्य और उनका जीवन-दर्शन। सांस्कृतिक मूल्य ही समाज के विभिन्न तत्वों को आपस में जोड़कर रखने का कार्य करते हैं। यह मानव- जीवन के प्रत्येक पहलू को स्पर्श करते हैं।

ई.वी. टेलर ने कहा, ‘‘संस्कृति वह जटिल इकाई है, जिसके अन्तर्गत आचार-विचार, विश्वास, रीति-रिवाज, विविध-विधान एवं परंपरायें आती हैं। इसके अंतर्गत सभी समताएँ एवं आदतें शामिल हैं।’’[51] वास्तव में यह संस्कृति ही मनुष्य के जीवन जीने का तरीका है।

नृविज्ञानवेता मि. लिनोवस्की ने तो ‘संस्कृति’ को और व्यापक रूप में देखा है। उनके अनुसार, ‘‘मानव जाति की समस्त सामाजिक विरासत या मानव की समस्त संचित सृष्टि का ही नाम संस्कृति है।’’[52] संस्कृति की यह व्याख्या आदिवासी संस्कृति के संदर्भ में अक्षरतः लागू होती है, जहाँ असुन्दर कुछ भी नहीं और जहाँ सुन्दरता और उपयोगिता एक दूसरे के पूरक हैं। आदिवासी संस्कृति उपयोगितावादी-प्रकृतिवादी है, जो सहजीवता, सामूहिकता एवं सहभागिता पर बल देती हैं। यहाँ मनुष्य श्रेष्ठतम इकाई नहीं, बल्कि केवल एक इकाई है। प्रकृति के प्रत्येक घटक - पेड़-पौधे, जीव-जन्तु - के साथ इसका सहज संबंध है। आदिवासी संस्कृति के संबंध में डॉ. नरेन्द्र ब्यास ने ठीक ही कहा है कि आदिवासी संस्कृति एक अद्भुत संस्कृति है, इनका समाज भी अधिक मानवतावादी है, साथ ही इनमें जीवन के प्रति आस्था है, जीवन आनंद के साथ जीने की ललक है।

आदिवासी संस्कृति के मूल में आदिवासी-दर्शन हैं। इस संदर्भ में वंदना टेटे लिखती हैं कि, ‘‘आदिवासी दर्शन और ज्ञान-परंपरा वाचिक है। वह समाज प्रकृति के साथ ही संपूर्ण जीव-जगत को समानता के स्तर पर देखता है। इस समाज में विश्वास की परंपरा इतनी प्रगाढ़ और भरोसेमंद थी कि उन्हें

कभी कोई वायदा लिखित तौर पर नहीं करना पड़ा।''[53] आदिवासी संस्कृति का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि यहाँ के लोगों का जीवन अत्यन्त साधारण है, ये 'जियो और जीने दो' की तर्ज पर चलने वाली संस्कृति है। झारखंडी भाषा-साहित्य संस्कृति 'अखड़ा पत्रिका' में ग्लैडसन डुंगडुंग अपने आलेख 'आदिवासी दर्शन के पास दुनिया को लौटना है' का हवाला देते हुये आदिवासी दर्शन के बारे में बताती हैं कि, ''आदिवासी दर्शन है प्रकृति के साथ जीना सीखो। प्रकृति का उतना ही उपयोग करो जितना जीवन जीने के लिए जरूरी है। लालच के लिए प्रकृति को नष्ट नहीं करो।''[54] आदिवासी-दर्शन प्रकृति के प्रत्येक घटक के प्रति सम्मान और समानता का भाव रखता है, एवं व्यक्तिवादी दर्शन के विरोध में एक विकल्प प्रस्तुत करता है।

यदि हम स्त्री-पुरुष-संबंध के संदर्भ में आदिवासी दर्शन को देखें तो वहाँ भी 'स्त्री' के प्रति सम्मान और समानता का भाव है। वह न देवी है, न ही पुरुष की गुलाम है, वह स्त्री है। आदिवासी संस्कृति में 'स्त्री' के सम्मान को उसकी यौन-शुचिता से जोड़कर नहीं देखा जाता। वह आत्मनिर्भर होती है।

धर्म एवं संस्कृति में अन्योन्याश्रय संबंध है। लेकिन जिसे हम संस्थागत-धर्म कहते हैं, उससे भिन्न है आदिवासी धर्म। ऐसा माना जाता है कि आदिवासियों का कोई विशेष धर्म नहीं होता। वे मूलतः प्रकृति-पूजक होते हैं। लेकिन मुख्यधारा के सांस्कृतिक अतिक्रमण के कारण आज आदिवासियों को भी अपने धर्म की अवधारणा को स्पष्ट करने की आवश्यकता महसूस हो रही है। रामदयाल मुंडा आदिवासी धर्म को 'आदिधरम' की संज्ञा देते हुए लिखते हैं कि, '' 'आदिधरम' से हमारा तात्पर्य भारतीय आदिवासियों की धार्मिक आस्थाओं के उस मूल स्वरूप से है, जिसे प्रकरांतर में एनिमिज्म, एनिमिस्टक रिलिजन, प्रिमिटिमिज्म, एबोरिजनल, आदिवासी धर्म, जनजाति धर्म, सरनाइज्म, सरना धर्म, सारिधर्म, जाहिरा धर्म, बोंगाइज्म, दोनीपोलो, बाधौ इत्यादि नामों से विहित किया गया है।''[55] इसमें कोई संदेह नहीं कि आदिवासी हिंदू नहीं है। इनका पूजा स्थल वृक्षों का एक समूह है। मुंडाओं के देवता 'सिंगबोंगा' हैं। उन्हें 'हिंदुआइज्ड्ड' करना उनकी संस्कृति-सभ्यता पर सीधा प्रहार करना है। इसी संदर्भ में रमणिका गुप्ता लिखती हैं, ''आदिवासी का अपना धर्म सरना है जो प्रकृति का धर्म है। वह पेड़ों

और अपने पूर्वजों की पूजा करता है। दफनाए गये या जलाये गये पूर्वजों की कब्रों या श्मशानों को चिन्हित करने तथा उसकी स्मृति बनाये रखने हेतु वह उनपर पत्थर लगाता है - जिन्हें वह 'ससन' कहता है और उसकी पूजा करता है। 'ससन' पर उसके पूरे समाज का, पूरे समुदाय का हक होता है। वे इन 'ससन' यानी 'पत्थरों' को ही अपने जीवन के पट्टे की तरह मानता है। उसका धर्म उसके जीवन का नियम है, इसलिए वह व्यवहारिक है। उसका 'बोंगा' (देवता) और कोई नहीं, उसका पूर्वज ही है, जो उसका मित्र है। ...वह किसी 'भगवान' को नहीं स्वीकारता, न देवता को मानता है। वह केवल 'स्पिरिट' की अवधारणा पालता है, जो अच्छी भी हो सकती है और बुरी भी। आदिवासी अपने आप को 'हिंदू' नहीं कहता। वह अपनी पहचान पूछे जाने पर कि ''तुम कौन हो?'' ''मैं आदिवासी हूँ'' कहता है वह।''[56]

अतः अन्य धर्मावलंबियों की तरह आदिवासियों की पहचान उनका कोई धर्म नहीं, बल्कि संस्कृति है, जो प्रकृतिवादी है। जिसमें आदिवासी तत्व मौजूद हैं। उनके धर्म, संस्कृति, रीति-रिवाजों, लोकपर्वों सभी में प्रकृति रची-बसी है। किंतु आदिवासी धर्म के कुछ नकारात्मक पहलुओं पर भी हमारी दृष्टि जाती है। आदिवासी समाज में अंध-विश्वास, भूत-प्रेत आदि का भी बोलबाला सदा से रहा है। जैसे कि पूर्वजों की आत्मा की तृप्ति के लिए नागा जनजातियों में पशुओं की बलि दी जाती है, जो 'मिथन' पर्व के नाम से जाना जाता है। इसका कारण आदिवासी समाज में शिक्षा के प्रचार-प्रसार की कमी है।

इन्हीं अंधविश्वासों के विरोध में आदिवासी सुधारकों ने 'बिरसा-धर्म' का भी आह्वान किया है। भगवान बिरसा मुंडा ने आदिवासी समाज में व्याप्त इन्हीं कर्मकांडों और अंधविश्वासों के विरोध में एक सुधार-आंदोलन चलाया था।

कुल मिलाकर आदिवासी संस्कृति के पांच मूल स्तंभ हैं। पहला - प्रकृति से सहज संबंध, दूसरा श्रम रस में आप्लावित जीवन, तीसरा- स्त्री के प्रति सहज सम्मान और समता का भाव, चौथा - वर्ण-व्यवस्था के प्रति पूर्ण उदासीनता एवं पांचवां है- सामुदायिकता एवं सहजीविता में प्रबल आस्था।

लेकिन आदिवासी समाज की संस्कृति को समग्रता में समझने के लिए उसकी सांस्कृतिक-संरचना के तत्वों को समझना आवश्यक है, जो निम्न हैं :-

गोत्र : आदिवासियों में 'गोत्र' का बहुत महत्व है। एक ही 'गोत्र' का होना यानी कि एक ही पूर्वज की संतानें होना। किंतु यह पूर्वज केवल मनुष्य नहीं बल्कि पेड़-पौधे, पशु-पक्षी तथा अन्य वस्तुयें भी हो सकती हैं। प्रत्येक गोत्र का अपना एक पहचान चिन्ह होता है। एक ही गोत्र में विवाह करना प्रायः निषेध है।

कर्णबेध संस्कार : यह प्रतीकात्मक रूप में धरती माँ के प्रति बच्चे के समर्पण का संस्कार है, जिसमें 'बच्चे' की प्रतीकात्मक मृत्यु होती है। उसके उपरांत धर्म माँ-बाप उसे गोद लेते हैं और जीवनभर उस बच्चे के प्रति अपने माँ-बाप होने के कर्त्तव्यों का निर्वहन करते हैं।

विवाह-संस्कार : वैवाहिक संस्कार एवं इसकी प्रक्रियाओं को लेकर आदिवासी समूहों में पर्याप्त भिन्नता परिलक्षित होती है। यहाँ एकल एवं बहुविवाह दोनों ही प्रकार के विवाह नजर आते हैं। झारखंड, उड़ीसा एवं बंगाल में पायी जाने वाली खड़िया जनजाति में बहुविवाह की प्रथा है। विवाह की भी कई पद्धतियाँ प्रचलित हैं, जैसे कि सेवा-विवाह, क्रय- विवाह, हठ-विवाह, हरण-विवाह आदि। यहाँ विवाह के समय वरपक्ष द्वारा कन्यापक्ष को दहेज देने का रिवाज है, जिसे 'हो' आदिवासियों में 'गोनोंग' प्रथा कहते हैं। वस्तुतः यह दहेज प्रथा का ही एक अलग रूप है। सगोत्रीय विवाह प्रायः वर्जित है, लेकिन पूर्वोत्तर भारत के कई आदिवासी समूहों में एक ही गोत्र में विवाह करने की अनुमति है। साधारणतः जब लड़का हल चलाने योग्य हो जाय और लड़की चटाई बनाना सीख जाये तो उन्हें विवाह-योग्य माना जाता हैं। विवाह-संबंधी कार्यों में गांव के प्रमुख की अनुमति आवश्यक होती है। विवाह कराने में भी 'अगूआ' की भूमिका महत्वपूर्ण है। बंगाल के हाजॉड आदिवासी समाज में अगुआ को 'जाहू' कहते हैं। गांव के प्रमुख से 'जाहू' द्वारा अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् 'पान-चिन्नी' समारोह आयोजित होता है, जहाँ गांव के लोगों के बीच चीनी एवं पान-सुपारी बांटकर विवाह की तिथि निर्धारित की जाती है।

इसके उपरांत 'आयारक्स' परंपरा का पालन किया जाता है, जिसमें वरपक्ष की ओर से नये वस्त्र, चूड़ियाँ, सिंदूर तथा गहने दुल्हन को भेंट किये जाते हैं। विवाह के लिए 'बियामण्डप' अर्थात् वेदी बनायी जाती है, जहाँ विवाह संपन्न होता है। आदिवासी समुदाय में तलाक भी निषेध नहीं है और प्रक्रिया अपेक्षाकृत सरल है। विवाह-विच्छेद का आधार बांझपन, बुद्धिहीनता, परस्त्रीगमन आदि हो सकते हैं।

प्रेम एवं विवाह सम्बन्धी 'युवागृह' आदिवासी-संस्कृति की एक विशिष्टता है। इसके विषय में समाजशास्त्री योगेश पटेल कहते हैं कि, ''आदिवासी समाजों में सामुदायिक भावना का विकास करने, युवक-युवतियों को उचित प्रशिक्षण देने तथा वैवाहिक जीवन के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार करने का कार्य सामुदायिक गृह और युवागृह करते हैं। सामुदायिक गृहों में गांव के सभी पुरुष तथा सभी स्त्रियाँ, अथवा दोनों, विशेष अवसरों पर इकट्ठे होते हैं, उत्सव मनाते हैं, अतिथियों का स्वागत करते हैं, और समुदाय के लिए नीतियाँ निर्धारित करते हैं। युवागृहों में गांव के अविवाहित युवक-युवतियाँ सम्मिलित रूप से अथवा अलग-अलग नित्य शाम को इकट्ठा होते हैं, मनोरंजन करते हैं और रात को सोते हैं।''[57] किंतु इस घोटुल प्रथा के प्रति मुख्यधारा का दृष्टिकोण स्वस्थ नहीं रहा है, एवं उनके द्वारा कई बार इसे 'सेक्सुअल कम्यूनिज्म' का नाम भी दिया गया है।

वेलियर एल्विन का घोटुल परंपरा के विषय में मानना है कि यह वैवाहिक संबंधों में प्रगाढ़ता लाता है तथा इससे तलाक की समस्या पैदा नहीं होती है। जो भी हो किंतु यौन शुचिता की धारणा अभी तक आदिवासी समाज में जड़ नहीं जमा पायी है, यही कारण है कि स्त्रियों की स्थिति यहाँ अपेक्षाकृत मजबूत है।

मृत्यु-संस्कार : मृत्यु-संस्कार का भी उतना ही महत्व है जितना कि विवाह संस्कार का। यहाँ मृतक व्यक्ति को हल्दी एवं तेल लगाया जाता है क्योंकि आदिवासी समुदायों में मृत्यु 'दूसरा विवाह' है, जिसमें पंचतत्वों से बना शरीर पंचतत्वों में ही विलीन हो जाता है। किसी समाज में दफनाने की प्रक्रिया का पालन होता है तो कहीं जलाने की प्रकिया का । इसके उपरांत मृतक की आत्मा के 'घर वापसी'

का कार्यक्रम आरंभ होता है। आदिवासी समाज में यह मान्यता है कि मरने के बाद व्यक्ति अपने पूर्वजों के साथ घर में ही रहता है। असम के 'कर्बी' आदिवासी समाज में मृत्यु-संस्कार को 'चोमाँग्कान' नामक उत्सव के रूप में मनाया जाता है, जो मृत्यु के सात साल के भीतर संपन्न होता है। इसके दौरान नाचने-गाने की परंपरा का पालन किया जाता है, जिससे कि मरने वाले की आत्मा को शांति मिले।

पर्व-त्यौहार एवं उत्सव :

पर्व-त्यौहार किसी भी संस्कृति का अभिन्न अंग होते हैं। चूंकि आदिवासी समाज का प्रकृति से निकटस्थ संबंध है और प्रकृति ही इनमें रची-बसी है, अतः इनके पर्व-त्यौहारों में प्राकृतिक-तत्वों का उभर कर आना स्वाभाविक है। प्रकृति इनके लिए साधन नहीं बल्कि साध्य है।

'सरहूल' इसी प्रकृति की अराधना का पर्व है, जिसमें 'शाल' फूल के प्रतीक के रूप में नई प्रकृति के आगमन का स्वागत किया जाता है। खड़िया समाज में इस सरहूल पर्व को 'जोकोंर' नाम से जाना जाता है, तो वहीं बिरहोर समाज में 'परोब' के नाम से । सरहूल पर्व के पहले आदिवासियों में 'वन' के उत्पादों - फूल, पत्तियों, फलों या अन्य वस्तुओं- का उपयोग वर्जित है।

इसी तरह कृषि-संबंधी, 'सोहराई' एक मवेशी-पर्व है। इस पर्व में कृषि कार्य में सहायक पशुओं की पूजा-अर्चना की जाती है। इसमें प्रसाद के लिए चावल के आटे के घोल की 'अल्पना' बनाई जाती है तथा पशु-लक्ष्मी की पूजा की जाती है। यह पर्व पांच दिनों तक चलता है। ''बाङ्गला' गारो समुदाय का त्यौहार है। यह कृषि संबंधी पर्व फसल की कटाई के समय मनाया जाता है। 'भगोरिया' भी भील समुदाय का एक सप्ताह तक चलने वाला मेला-पर्व है। इस दौरान यदि युवक-युवतियाँ एक-दूसरे को पसंद कर लेते हैं, तो गोत्र आदि संबंधी समस्या न होने पर उनका विवाह करा दिया जाता है।

लोकगीत एवं नृत्य :

जैसा कि रमणिका गुप्ता कहती हैं, -‘‘आदिवासियों की गति में नृत्य है, वाणी में गीत है, जब वह चलता है तो थिरकता है और जब बोलना है तो गीत के स्वर फूटते हैं।’’[58] इनके गीतों और नृत्यों का आलंबन प्रकृति ही है, जिसमें आदिवासी विरासत प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देती है। गीत एवं नृत्य का इनके जीवन से सहज संबंध है।

संथालों में कृषि देवता के पूजन के समय कृषक अच्छी खेती की कामना के साथ वर्षा का आह्वान करते हुए गाते हैं -

‘‘धरती तांग तिस आबा

दत्ते धरती ओदा तिस ओदा

बादुर देन बादुर

बादुर अतान तवांग लगाई।’’

इसी तरह मृत्यु-संस्कार के अवसर पर महिलाओं द्वारा गाये जाने वाला यह गीत हृदयस्पर्शी है -

‘‘चोले दादरो रोले, अई, अई, अई।

ओरू तोरू रा जाल रे, ए ए ए।"

पूर्वोत्तर भारत के खासी आदिवासी समुदाय में प्रचलित ‘वेइकिंग’ नृत्य, उनकी संस्कृति को प्रदर्शित करने वाला नृत्य है।

इसमें ‘‘शारीरिक गतिविधियाँ, हाथ-पैर हिलाना और यहाँ तक कि नर्तक-नर्तकी के चेहरे का भाव बहुत कुछ स्त्री-पुरुष के संपत्ति संबंधित उत्तरदायित्व को बताता है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी चले आ रहे रिवाज पर आधारित है।’’[59]

‘शैला नृत्य’, बिहार के आदिवासियों में प्रचलित एक प्रसिद्ध लोक-नृत्य है, जिसमें आदिवासी युवक अपनी कमर पर मोरपंख बांधकर वृत में नाचते हैं। प्रत्येक नर्तक के हाथ में एक डंडा होता है, जिसे वे बड़ी ही कला के साथ घुमाते हुए नृत्य करते हैं।

आदिवासी संस्कृति एक अनूठी संस्कृति है। हृदय के आयतन का ऐसा विस्तार हम तथाकथित मुख्यधारा की संस्कृति में नहीं देखते हैं। सही अर्थों में यह संस्कृति सामूहिकता और सहजीविता के सिद्धान्त पर चलने वाली संस्कृति है। ‘स्त्री महागाथा’ में रोजकरकट्टा ठीक ही लिखती हैं कि ‘‘यहाँ की हवा, पानी और मिट्टी में यह गुण है कि यहाँ आते ही लोग यहाँ के हो जाते हैं। यहाँ यह सहृदयता है कि आधी रोटी खुद खाते और आधी मेहामन को खिलाते हैं। हमारे नृत्य-संगीत को देखिये कहीं एकल राग और ताल नहीं है, सब सामूहिक सब सामुदायिक, सभी सहयोगी, सभी समान, सभी में सहिष्णुता। बाकी अन्य समाजों में जाति भेद, वर्ण-भेद जिस तरह से विद्यमान हैं, वह यहाँ नहीं दिखता।’’[60]

आदिवासी संस्कृति ‘समरस’ से पगी हुई संस्कृति है। आदिवासी, जीव के साथ-साथ वनस्पतियों और निर्जीवों को भी परमात्मा का अंश मानते हैं। उनका जुड़ाव भौतिक भी है और पराभौतिक भी। सही अर्थों में ‘वसुधैव कुटुंबकम’ का भाव इसमें समाहित है।

1.4 आदिवासी समाज : भूमंडलीकरण और पारिस्थितिकीय संकट

2011 की जनगणना के अनुसार भारत में 8.6 प्रतिशत जनसंख्या आदिवासियों की है। आदिवासी समाज का मुख्यधारा के समाज से जीवन-दर्शन तथा सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर कोई साम्य नहीं है। इन्हीं कारणों से आदिवासी समुदाय को इनके ‘अस्तित्व और अस्मिता’ की रक्षा हेतु संविधान के विशेष प्रावधानों के अन्तर्गत रखा गया। लेकिन, आज देश में आदिवासियों की हालत को देखते हुये यही कहा जा सकता है कि ये प्रावधान केवल कागजों में ही सिमट कर रह गये हैं। स्वतंत्रता के पश्चात् सरकार की नीतियों ने आदिवासियों को और हाशिये पर धकेलने का कार्य किया है। ऐसी ही

एक नीति है भूमंडलीकरण की, जिसकी शुरूआत भारत में सन 1991 में अपनाई गई नई आर्थिक नीति से होती है। जिसने परिणामस्वरूप न केवल आदिवासियों के लिए आर्थिक संकट उत्पन्न किया है, बल्कि 'विकास के शिकार' इन आदिवासियों की प्रकृति का दोहन करके उनके लिए एक नई समस्या 'पारिस्थितिकीय संकट' को भी जन्म दिया है। 1990 के दौर से शुरू हुये सुधारों के मॉडल, जिन्हें सामान्यतः हम एल.पी.जी. मॉडल अर्थात् उदारीकरण, निजिकरण और वैश्वीकरण के नाम से जानते हैं, ने आम जनता के अधिकारों का फिर से न्यूनीकरण शुरू कर दिया। इस नीति के तहत विकसित देशों की सरकारों और उद्योगपतियों ने विकासशील देशों की सरकारों के साथ मिलकर 'मनुष्य' और उसकी सभ्यता के विकास के लिए, उसकी आर्थिक प्रगति के लिए योजनाएँ बनाई। इन योजनाओं में जिन बातों पर विशेष ध्यान दिया गया, वे थी - जल, जंगल और जमीन। कृषि से जुड़ी जमीन को कैसे उत्पादन में और अधिक सहयोगी बनाया जाए, कैसे उनका उपयोग उद्योग-धंधों की स्थापना के लिए तथा नदियाँ-नाले, पहाड़ और जंगल जो भी हमारे प्राकृतिक संसाधन हैं, उनको किस प्रकार 'विकास का माध्यम बनाया जाये। आर्थिक संकट के दौर से गुजर रहे हमारे देश को भी इस योजना से काफी उम्मीदें थीं। ये उम्मीदें पूरी हुई और देश आर्थिक संकट से उबर आया पर यहीं से शुरूआत हुई एक नई समस्या की। नव-उदारवादी व्यवस्था की आड़ में जल, जंगल और जमीन से जुड़ी आम जनता के अधिकारों के हनन की। जिसका सबसे अधिक खामियाजा जिस समुदाय को भुगतना पड़ा है वह है हमारा - आदिवासी समाज। प्रकृति को अपना मानकर बिना किसी लालच के जीने वाले आदिवासियों को बीते सालों में उत्खनन और वाइल्ड लाइफ प्रोटेक्शन के नाम पर असहाय बना दिया गया। इस विकास की अंधी दौड़ न केवल उन्हें विस्थापित होने के लिए बार-बार मजबूर किया है, बल्कि हमारे पर्यावरण और प्रकृति को भी बेहताशा नुकसान पहुँचाया है, जिसको यह समुदाय सदियों से पूजता आया है। जैसे-जैसे विकास की रेल बढ़ती जा रही है, पर्यावरण का संकट भी गहराता जा रहा है। बढ़ रही प्राकृतिक आपदाओं का सबसे आसान शिकार यही आदिवासी समुदाय है। इसका उदाहरण है केरल, महाराष्ट्र और कर्नाटक में

आया भयंकर जल-प्रलय। वनों की अंधाधुंध कटाई और जलवायु-परिवर्तन इस भारी वर्षा के मुख्य कारण हैं।

पर्यावरण वैज्ञानिक डॉ. एस. विजयन कहते हैं - "केरल असल में मानव-निर्मित त्रासदी का शिकार हुआ है। अगर पारिस्थितिक रूप से नाजुक इन पहाड़ी क्षेत्रों को संरक्षित करने के लिए 'गाडगिल समिति' की रिपोर्ट को लागू किया गया होता तो इस त्रासदी को सीमित किया जा सकता था।''[61]

इस समिति की संस्तुतियों को इसलिए ही लागू नहीं किया जा सका क्योंकि केरल, गोवा और महाराष्ट्र की राज्य सरकारों ने इसका यह कहकर विरोध किया कि इससे 'विकास के कार्य' में रूकावट आयेगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि पश्चिमी घाट से जुड़ी जमीन और चट्टानों के इस असंवेदनशील उपयोग ने इस जल-प्रलय को जन्म दिया, जिसने हजारों लोगों की जीवन-लीला समाप्त कर दी और लाखों को बेघर कर दिया है। ऐसे में आदिवासी लोगों के लिए जो अपनी जीविका के लिए जल, जंगल और जमीन पर ही निर्भर रहे हैं, अपने अधिकारों को हासिल करने का संघर्ष और बढ़ गया है। 'भूमंडलीकरण' ने औद्योगिक प्रक्रियाओं को और तेज कर दिया है।

आदिवासी समाज के आधार-स्तंभ जल, जंगल और जमीन अब केवल मल्टीनेशनल कंपनियों के व्यापारिक हित का साधन बनकर रह गये हैं। उनकी जमीनों का उत्खनन हो रहा है। नदी-नालों को रोक कर उन पर बांध बनाये जा रहे हैं। विकास के नाम पर कहीं यह समुदाय विस्थापन का दंश झेल रहा है, तो कहीं पारिस्थितिकी के नष्ट होने के कारण प्राकृतिक आपदाओं का सामना कर रहा है। आज कई आदिवासी समुदाय विलुप्त होने की कगार पर खड़े हैं। इसी आशंका को भापते हुए वेरियर एल्विन ने कहा था कि यदि आदिवासियों को बचाना है तो इसके रहनवास और पारिस्थितिकी को उन्हीं के अनुसार छोड़ दिया जाय, उन पर बाहरी हस्तक्षेप खत्म किया जाये। लेकिन आज स्थिति ठीक उसके विपरीत है। ''कम से कम एक तिहाई बोरो आबादी असम के वन क्षेत्र में बसती है। पूर्व में कोई भी बोरो

भूमिहीन नहीं था। बेज़मीन होने की समस्या से वे अनजान ही थे। पर अब लाखों बोरो लोग भूमिहीन होकर अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे हैं।’’[62]

इसी तरह प्राकृतिक संसाधनों की दृष्टि से संपन्न राज्य ‘झारखंड’ की भी यही स्थिति है। उद्योग, खनन, जल एवं विद्युत परियोजनाओं का जो सिलसिला आजादी के पहले से ही चल रहा था भूमंडलीकरण के कारण और तेज हो गया है।

‘‘मुगलकाल तक झारखंड क्षेत्र की अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि-उपज और वन-संपदा के दोहन पर आधारित रही। कहीं-कहीं हीरा और तांबा पाये जाने का उल्लेख मिलता है। मगर वह पठार से बाहर की दुनिया से व्यापार-संबंध का जरिया भर था। इससे पहले असुर आदिवासी लोहा गलाने के आदिम धातु विशेषज्ञ माने जाते थे। अंग्रेजों के आने के बाद रेल और भाप इंजनों के इस्तेमाल के लिए कोयलांचल में उत्खनन का कार्य शुरू हुआ। पहली भूमिगत खदान सन 1814 में रानीगंज में स्थापित हुई। पलामू जिले की राजहरा कोलियरी धुआँरहित पहली खदान श्रेणी का कोयला जापान को निर्यात किया जाता था। पुराने हजारीबाग जिले के कोडरमा-गिरिडीह इलाके में सन् 1880 से अबरख की खदानें उत्पादन करने लगी थी। 1907 में जमशेदपुर में टाटा आयरन एण्ड स्टील कंपनी स्थापित हुई। 1918 में जपला में सीमेंट फैक्टरी तैयार हुई। इस तरह आजादी से पहले देश के खनिज आधारित उद्योग-धंधे पुराने मानभूम-सिंहभूम, आज का धनबाद और जमशेदपुर क्षेत्र तक सीमित रहे।’’[63]

स्वतंत्रता के पश्चात् तो विकास के नाम पर तो इस प्राकृतिक संपदा संपन्न क्षेत्र में कल-कारखानों एवं खनन-परियोजनाओं की बाढ़ सी आ गई। 1958 में ‘हेवी इंजीनियरिंग कॉपरेशन, 1966 में बोकारो स्टील प्लांट खुला। 2000 में अलग ‘झारखंड’ राज्य बना आदिवासी समुदाय के अस्तित्व की रक्षा एवं उनके विकास के लिए। किंतु व्यापारिक कंपनियों का शोषण फिर भी जारी रहा। अलग राज्य बनने के कुछ ही वर्षों के भीतर देशी-विदेशी कंपनियों से खनन आधारित उद्योगों में ‘इन्वेस्टमेंट’ के लिए ‘पैक्ट’ साइन करवाये गये। इन उद्योगों के स्थापना के लिए लगभग 50 हजार एकड़ भूमि के अधिग्रहण

की आवश्यकता थी। ये जमीनें इन्हीं आदिवासियों की थी। समय के साथ कटते वन, खतम होते कार्बन सिंक, सूखती नदियों ने इन क्षेत्रों में पर्यावरण के लिए गंभीर चुनौतियाँ पैदा कर दीं। भूमंडलीकरण ने एक प्रकार से आंतरिक उपनिवेशवाद को जन्म दिया है। आदिवासी स्वयं की जमीन पर ही ‘मजदूर’ बन कर रह गये हैं। विकास और विस्थापन साथ-साथ चल रहा है।

‘हूज फॉरेस्ट? ओनर्स बिकम वर्करस’ की रिपोर्ट के अनुसार, ‘‘कुल मिलाकर विकास कार्यों के चलते, आदिवासियों को अपनी आजीविका के साधन-स्त्रोतों से हाथ धोना पड़ रहा है। विकास परियोजनाओं के कारण कुल 1 करोड़ 85 लाख लोगों अर्थात् भारत की कुल जनसंख्या के 2 प्रतिशत से अधिक हिस्से को अपनी बस्तियाँ छोड़नी पड़ी हैं। विकास परियोजनाओं के लिए विस्थापित लोगों में लगभग 50 प्रतिशत आदिवासी हैं, यद्यपि उनकी आबादी भारत की कुल जनसंख्या का 8.08 प्रतिशत ही है। इतने विशाल परिमाण में विस्थापन के बावजूद सरकार के पास कोई समान पुनर्स्थापन और पुनर्वास नीति नहीं है।’’[64]

ये विस्थापित आदिवासी समाज महानगरों में रोजगार की तलाश में भटकता है, झुग्गी बस्तियों में रहता है। न वह आदिवासी रह पाता है न ही मुख्यधारा में शामिल हो पाता है। यह भूमंडलीकरण से उत्पन्न पारिस्थितिकीय संकट का परिणाम है कि उसकी सामाजिक एवं सांस्कृतिक संरचना नष्ट हो रही है।

आदिवासी समाज में निजि-संपत्ति की अवधारणा नहीं है। वहाँ संपत्ति पर सामूहिक अधिकार होता है। एक प्रकार का ‘आदिम साम्यवाद’ दिखता है यहाँ। लेकिन वैश्वीकरण में ‘पूँजीवाद’ का इतना व्यापक प्रसार किया गया है कि आदिवासी आर्थिक संरचना ही चरमरा गई है। इस संबंध में वेलरस्टेन अपनी पुस्तक ‘हिस्टोरिकल कैपिटलिज्म’ में लिखते हैं कि ‘‘पूँजीवाद में एक खास प्रकार की ऐतिहासिकता है, जिसमें यह अपने उत्पादन को समय और स्थान के साथ बांध लेता है। उनके अनुसार, पूँजीवाद अनिवार्य रूप से वैश्वीय है।’’[65] बिना प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जा किये पूँजीवाद की गाड़ी

आगे नहीं बढ़ सकती, जिससे आदिवासी जीवन खतरे में पड़ गया है। ‘सामाजिक न्याय’ की अवधारणा ही ‘न्यूसेंस’ घोषित की जा चुकी है। भूमंडलीकरण से उत्पन्न ‘पारिस्थितिकीय संकट’ ने ‘आदिवासी अस्तित्व’ पर ही प्रश्न चिन्ह लगा दिये हैं।

सन्दर्भ सूची-

1. मीणा, गंगा सहाय आदिवासी चिंतन की भूमिका, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2017, पृ.16

2. वही, पृ.17

3. दुबे, श्यामाचरण, समय और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ.05

4. http:/www.cultural survival.org/australia

5. मीणा, गंगा सहाय आदिवासी चिंतन की भूमिका, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2017, पृ.17

6 वही, पृ.21

7. वही, पृ.19

8.गार्सन, जॉन जॉर्ज, चार्ल्स रेड, नोट्स एण्ड क्वेरीज ऑन ऑन्थ्रोपोलॉजी, ज्ञान पब्लिकेशन हाउस, दिल्ली, 2018, पृ. 57

9.हसनैन, नदीम, ट्राइबल इंडिया, पलक प्रकाशन, दिल्ली, 2019, पृ.35

10. गुप्ता, रमणिका(संपादक), आदिवासी कौन?, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2019, पृ.26-27

11. वही, पृ.30

12. मीणा, गंगा सहाय, आदिवासी चिंतन की भूमिका, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2017, पृ.21

13. उप्रेती, हरिश्चंद्र, भारतीय जनजातियाँ संरचना और विकास, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2002, पृ.02

14. The aborigiaes 'so-called' and their future, Gorkhale Institute of Politics and Economics, Poona, 1943

15. मीणा, गंगा सहाय आदिवासी चिंतन की भूमिका, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2017, पृ.13

16. चट्टोपाध्याय, देवी प्रसाद, लोकायत प्राचीन भारतीय भौतिकवाद का अध्ययन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 56

17. चट्टोपाध्याय, देवी प्रसाद, लोकायत प्राचीन भारतीय भौतिकवाद का अध्ययन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ.47

18 वही, पृ.46

19. वही

20. वही

21. वही, पृ.116

22. वही

23. वही, पृ.370

24. वही

25. वही, पृ.136

26. वही

27. वही, पृ.147

28. विद्यार्थी, विनय कुमार, द ट्राइबल कल्चर ऑफ इंडिया प,कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग कपनी, नई दिल्ली, 1976, पृ. 146

29. वही, पृ.148

30. हसनैन, नदीम, ट्राइबल इंडिया, पलक प्रकाशन, दिल्ली, 2019, पृ.58

31.वही, पृ.71

32. गुप्ता, रमणिका(संपादक), पूर्वोत्तर का आदिवासी स्वर, अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 11-12

33. वही, पृ.28

34. वही, पृ.344

35. वही, पृ.29

36. वही, पृ.26

37. वही, पृ.27

38. वही, पृ. 26

39. वही, पृ. 361

40. दुबे, श्यामाचरण, समय और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ. 65

41. वर्मा, रूपचंद्र, भारतीय जनजातियों, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 2003, पृ. 17

42. मीणा, गंगा सहाय, आदिवासी और हिंदी उपन्यास अस्मिता और अस्तित्व का संघर्ष, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ.101

43. वही, पृ.101

44.. मीणा, केदार प्रसाद, आदिवासी समाज, साहित्य और राजनीति, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2014, पृ.32

45. राय, एस.सी., दि मुंडाज एंड देयर कंट्री, एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1970, पृ.12

46. मीणा, केदार प्रसाद, आदिवासी समाज, साहित्य और राजनीति, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2014, पृ.33

47. वही, पृ.36

48. सच्चिदानंद, द चेजिंग मुंडा, कॉन्सेप्ट पब्लिशिग कंपनी, नई दिल्ली, 1979, पृ.41

49. मीणा, केदार प्रसाद, आदिवासी समाज, साहित्य और राजनीति, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2014, पृ.43

50. गुप्ता, रमणिका (संपादक), आदिवासी कौन, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2019, पृ.37

51. वही, पृ.37

52. . टेटे, वंदना, वाचिकता, आदिवासी दर्शन, साहित्य और सौन्दर्यबोध, राधाकृष्ण पब्लिकेशन, दिल्ली, 2020, पृ.27

53. डुगडुग, ग्लैंडसन, आदिवासी दर्शन के पास दुनिया को लौटना है, झारखंडी भाषा-साहित्य संस्कृति अखाडा, 2014

54. मुंडा, रामदयाल, आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2002, पृ.48

55.   गुप्ता, रमणिका (संपादक), आदिवासी कौन, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2019, पृ .6

56. अटल, योगेश, यतीन्द्र सिंह सिसोदिया, आदिवासी भारत, रावत प्रकाशन, जयपुर, 2011, पृ. 42

57. गुप्ता, रमणिका (संपादक), आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ.08

58. वही , पृ. 335

59. केरकेट्टा, रोज, स्त्री महागाथा की महज एक पंक्ति, नेशन प्रेस, रांची, 2014, पृ.36

60. https://www.livehindustan.com/national/story-the-result-of-tampering-the-environment-is-the-catastrophic-flood-in-kerala-2128524.html

61. गुप्ता, रमणिका(संपादक), पूर्वोत्तर का आदिवासी स्वर, अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.37

62. कुमार, डॉ.वीरेन्द्र, , आदिवासी विमर्श और हिंदी साहित्य, पैसफिक पब्लिकेशन, दिल्ली, 2013, पृ.04

63. शर्मा.एम., हूज फारेस्ट्रस? ऑनर्स बिकम बर्कर्स, लेबर फाइल, भाग-3. मई-जून 1997, पृ.16

64. दोषी, एस.एन, आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2002, पृ.317

65. वही